विवेक शिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ सितम्बर—१९८२ अंक—९

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

यह-अंक

अध्यात्म—पथ के अनेक साधकों का यह विश्वास रहा है कि ईश्वर की कृपा उन पर कभी न कभी अनायास ही बरस पड़ेगी। इसके लिए किसी साधन-भजन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह धारणा निर्भ्रान्त नहीं है। प्रभु-कृपा की प्राप्ति के लिए भी कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। ईश्वर के प्रति एकान्त उन्मुखता, अटूट आस्था और आतुर पुकार—ये ही वे तत्व हैं जिनसे प्रभु की कृपा साधकों पर बरसती है। साधकों को इन्हीं तत्वों का पाल तान देना होगा। सम्पादकीय सम्बोधन (उठा पाल नाविक !) में इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है जो साधकों के लिए प्रेरक सिद्ध होगा।

ज्ञान-योग का चरम फल है जीव और ब्रह्म की अद्वयता का बोध, अपने में समस्त जगत् को और समस्त जगत् में अपने को देखने की दृष्टि का उन्मेष, अखण्ड आनन्द और अनुक्षण अभय में प्रतिष्ठा। 'ज्ञानयोग का प्रतिफलन' नामक निबंध में अद्वैत आश्रम, मायावती, (हिमालय) के अध्यक्ष एवं 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक श्रीमत स्वामी अनन्यानन्द जी महाराज ने उपर्युक्त तथ्यों का बड़ा ही विशद्, तर्क पूर्ण और अनुभव सिद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है जो ज्ञानयोगियों के साथ ही सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी है। अनुवादक हैं—शितिकंठ बोधिसत्व।

पार्वती योगाश्रम, छपरा के स्वामी शक्तिबालक जी महाराज ने 'अपना अपनापन अपनत्व' नामक निबंध में अनेक युक्तियों के साथ यह प्रतिपादित किया है कि अपनत्व वस्तुतः ईश्वर और गुरु से ही हो सकता है और इसके लिए व्यक्ति को अहंकार से शून्य होना होगा।

ब्रह्मचारी वरदा चैतन्य ने श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के अन्यतम शिष्य स्वामी निरंजनानन्द के विलक्षण व्यक्तित्व और अनुकरणीय कर्तृत्व का परिचय बड़े ही भावुक, मार्मिक और तन्मयतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके भाव और शिल्प का समन्वय वस्तुतः हृदयावर्जक है।

'तमेव मार्गम्, नामक लघु लेख में श्री शितिकंठ बोधिसत्व ने साधकों के लिए उस मार्ग का निर्देश बड़े सरल ढंग से किया है जो शास्त्र सम्मत है और जिस पर चल कर साधक प्रभु के द्वार तक पहुँच सकता है।

इस अंक में

१.	श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२.	पाठकों के पत्र		२
३.	सपार्षद—रामकृष्ण स्तोत्रम्	स्वामी सारदानन्द	३
४.	उठा पाल नाविक !	(सम्पादकीय सम्बोधन)	४
५.	ज्ञानयोग का प्रतिफलन	स्वामी अनन्यानन्द	९
६.	अपना अपनापन अपनत्व	स्वामी शक्ति बालक	१६
७.	परमहंस श्रीरामकृष्ण देव एवं मधुर भाव	उमेशचन्द्र	२०
८.	आत्मज्ञान (कविता)	डॉ० रामाशीष प्रसाद	२२
९.	श्रीसारदा देवी (जीवन-कथा)	स्वामी वेदान्तानन्द	२६
१०.	स्वामी निरंजनानन्द	ब्र० वरदा चैतन्य	२७
११.	तमेव मार्गम्	शितिकंठ बोधिसत्व	३१

उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ सितम्बर, १९८२ अंक—९

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
द्वैवार्षिक	५० रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग राशि सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

सत्य बोलना कलियुग की तपस्या है, इस जीवन में अन्य साधनाओं का अभ्यास करना कठिन है, परन्तु सत्य पर दृढ़ रहने से मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा भी है—'सत्य कथा, ईश्वराधीनता तथा पर-स्त्री को मातृ रूप से देखना, ये महान् गुण हैं। अगर इनसे हरि न मिलें तो तुलसी को झूठा समझो।'

(२)

स्त्री लेकर माया का संसार करने से मनुष्य ईश्वर को भूल जाता है। जो संसार की माँ हैं, उन्होंने इस माया का रूप धारण किया है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर फिर माया के संसार पर जी नहीं लगता। सब स्त्रियों पर मातृ ज्ञान के होने पर मनुष्य विद्या का संसार कर सकता है। ईश्वर के दर्शन हुए बिना स्त्री क्या वस्तु है, यह समझ में नहीं आता।

(३)

गीता के पाठ से क्या होता है?—वही, जो दस बार 'गीता' 'गीता' उच्चारण करने से। 'गीता' 'गीता' कहते रहने से 'तागी' (त्यागी) 'तागी' (त्यागी) निकलता है। संसार में जिसकी कामिनी और कांचन पर आसक्ति छूट गयी है, जो ईश्वर पर सोलहो आने भक्ति कर सका है, उसी ने गीता का मर्म समझा है। गीता को पूरा पढ़ने की आवश्यकता नहीं। 'त्यागी', 'त्यागी' कहने ही से हुआ—त्यागी बन सकने से ही हुआ।

पाठकों के पत्र

(१)

'दीप शिखा' की बढ़ती हुई लोकप्रियता के सम्बध में जानकर आह्लादित हुआ। यह इस पत्रिका के अनुरूप ही है। 'विवेक शिखा' उत्तम रूप से सम्पादित है और इस प्रकार की अनेक पत्रिकाओं से इनमें अधिक समृद्ध पठनीय सामग्री है। आपके परम योग्य सम्पादन में इसके यशपूर्ण भविष्य की कोई भी उपयुक्त भविष्यवाणी कर सकता है। अनेक व्यक्ति आमंत्रित होते हैं, किन्तु वरण कुछ का ही होता है और आप प्रभु (भगवान श्रीरामकृष्ण) के कार्यों के प्रचार-प्रसार के निमित्त प्रभु द्वारा वरण किये गये माध्यम हैं।

(प्रोफेसर) कामता चरण श्रीवास्तव,
रीडर एवं अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग,
लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर

(२)

'विवेक शिखा' प्राप्त कर अत्यन्त हर्ष हुआ। श्रीरामकृष्ण परमहंस जी की जीवनी से मुझे सदैव अध्यात्म पथ पर अग्रसर रहने की प्रेरणा मिली। इसलिए उनकी (भाव-धारा की) पत्रिका पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।

दास चन्द्रमोहन
संपादक, रब्बी दर्शन, करौल बाग, नई दिल्ली।

(३)

आपके द्वारा सम्पादित 'विवेक शिखा' का जून अंक पढ़ने को मिला। सम्पादकीय पढ़ा तो लगा, जैसे मेरे मन की बात सामने है। प्रेम की पवित्रता को आपने जिस तरह अपनी लेखनी में समेटा है और 'विवेक शिखा' में सँजोकर हम तक पहुँचाया है—उसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं। शिशिर कुमार मल्लिक की कविता भी बहुत अच्छी लगी।

अजय शंकर मल्लिक,
इण्डियन ओवरसीज बैंक, डकरा कोलियरी, राँची।

(४)

विवेक शिखा इस घोर कलिकाल में मृत-संजीवनी है। तरुण वर्ग के आलस्य और धर्म-विमुखता की कुहेलिका को समाप्त करने में समर्थ विवेक की भास्वर किरणें हमें सदैव मिलती रहें—यही कामना है।

अवधेश कुमार वर्मा, एम० ए०
ग्राम—पिआनों, डाक—अनवल, जि०—सारण।

(५)

पहले 'विवेक दीप' और अब 'विवेक शिखा' का छठा अंक देखने को मिला। अपने उत्कृष्ट विचारों के कारण यह अंक सुरुचिपूर्ण एवं संग्रहणीय बन गया है। 'रामकृष्ण ने कहा है' स्तम्भ तो निश्चय ही ज्ञान वर्धक और मर्म स्पर्शी है।

नरेन्द्र कुमार सिंह
दर्शन मंथन, महथी, समस्तीपुर

सपार्षद—रामकृष्ण स्तोत्रम्

—स्वामी सारदानन्द

सर्वधर्मस्थापकस्त्वं सर्वधर्मस्वरूपकः ।
आचार्याणां महाचार्यो रामकृष्णाय ते नमः ॥ १

यथाग्नेर्दाहिकाशक्ती रामकृष्णे स्थिता हि या ।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ॥ २

परतत्त्वे सदा लीनो रामकृष्णसमाज्ञया ।
यो धर्मस्थापनरतो वीरेशं तं नमाम्यहम् ॥ ३

कालिंदीफुल्लकमले माधवेन क्रीड़ारत ।
ब्रह्मानन्द नमस्तुभ्यं सद्गुरो लोकनायक ॥ ४

योगानन्दः प्रेमानन्दश्चान्ये वै ये च पार्षदाः ।
रामकृष्णगतप्राणाः सर्वास्तान्प्रणमाम्यहम् ॥ ५

भावार्थ—जो सर्वधर्म के स्थापक, समस्त धर्मों के स्वरूप तथा आचार्यों के महाचार्य थे उन श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १

आग में स्थित दाहिका शक्ति की भाँति जो सदैव श्रीरामकृष्ण में स्थित रहती हैं तथा जो सर्वविद्या स्वरूप हैं उन मातेश्वरी श्री सारदा देवी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २

जो सदा परमात्म तत्व के चिंतन-अनुचिंतन में लीन रह कर भगवान् श्रीरामकृष्ण के कीर्त्ति-विस्तार में लगे हुए हैं तथा जो सदैव सुधर्म की स्थापना में निरत हैं उन वीरेश स्वामी विवेकानन्द जी महाराज को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३

कुसुमित कमल-पुष्पों से युक्त यमुना के तट पर श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करनेवाले (अर्थात् जो अपने पूर्व जन्म में भगभान् कृष्ण के सखा और पार्षद थे) हे, लोक-नायक सद्गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४

स्वामी योगानन्द, स्वामी प्रेमानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के उन समस्त लीलापार्षदों को, जिनके प्राण सदैव श्रीराम-कृष्ण में ही लगे रहते थे, मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५

—:—:—

सम्पादकीय सम्बोधन

उठा पाल नाविक !

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में एक स्थल पर कहा है—'सोई जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुम्हहि होइ जाई।' बड़ी मार्मिक पंक्ति है यह। भावपूर्ण और मनन योग्य। हमारी आपकी सबकी आकांक्षा है कि हम ईश्वर-लाभ करें। प्रभु का दर्शन करें, साक्षात्कार करें और आत्मज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायँ। कितनी दिव्य कामना है यह! सच पूछें तो इससे उत्तम, इससे श्रेष्ठ और कोई कामना हो ही नहीं सकती। हम मुक्त हो जायँ, हम ईश्वर-दर्शन करें यह बड़ी मनोरम कामना है। तुलसीदास जी ने तो कहा है कि धर्म, अर्थ और काम की तो बात ही क्या, मैं तो मोक्ष तक नहीं चाहता। मेरी तो एक मात्र कामना है क्षण-क्षण, पल-पल, दिन-रात और जनम-जनम में केवल सीता-राम के चरण-कमलों में लगा रहूँ—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वाण।
जनम-जनम सियाराम पद, यह वरदान न आन॥

लेकिन, गोस्वामी जी ने यह अनुभव किया था कि लाख साधन-भजन करो बिना ईश्वर की कृपा के, बिना उनके अहैतुकी अनुग्रह के, अनुकम्पा के उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता, उन्हें जाना नहीं जा सकता। वस्तुतः हमें ईश्वर-दर्शन हो, हमें आत्मज्ञान हो, इसकी कामना का उदय होना ही ईश्वर की कृपा का परिणाम है।

सामान्यतः हमारी कामनाएँ भौतिक होती हैं। धन-सम्पत्ति, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, पद-मर्यादाएँ, नाम-यश आदि की कामनाएँ भौतिक कामनाएँ हैं। हमें प्रायः इन्हीं की चाह रहती है। हाँ, इनके साथ-साथ अगर लगे हाथों भगवान् की भी उपलब्धि हो जाय तो क्या घाटा है! इसलिए, ईश्वर-लाभ की माँग हमारी प्रमुख माँग नहीं रह जाती। वह गौण या अवान्तर माँग है। इस माँग में वह तीव्रता नहीं, वह विकलता नहीं रहा करती है। इसीसे श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'पति-पत्नी, बेटे-बेटियों के लिए तो हम घड़ों आँसू बहा देते हैं किन्तु, भगवान् के लिए एक कतरा भी आँसू कौन बहाता है! यदि ईश्वर के लिए हम दो बूँद भी आँसू बहा सकें तो उनका दर्शन हो सकता है।'

तो मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि ईश्वर-लाभ या आत्म-ज्ञान या मुक्ति की कामना, निष्ठापूर्ण और तीव्र कामना का हमारे भीतर जगना ही अपने आप में एक विलक्षण और महत्तम बात है। ऐसी कामना के जनमने में ही ईश्वर की कृपा देखी जानी चाहिए। बिना प्रभु के अनुग्रह के, जीव पर शिव की अहैतुकी कृपा के, ईश्वर-लाभ की कामना ही नहीं जनमती। श्रीशंकराचार्य जी ने विवेक चूड़ामणि में तीन बातों का कारण देवानुग्रह बताया है—

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः॥

अर्थात् मनुष्यत्व (मनुष्य रूप में जन्म लेना), मुमुक्षुत्व (मोक्ष की कामना का उदय होना) और महापुरुषों की सन्निधि (संत-महात्माओं की संगति प्राप्त करना)—ये तीन चीजें इस जगत् में बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती हैं। इनकी प्राप्ति का कारण एकमात्र ईश्वर की कृपा ही है।

अब, जब कि ईश्वर-लाभ की सही दृप्त कामना का जन्म लेना ही ईश्वर की कृपा पर निर्भर है तब ईश्वर की प्राप्ति तो उनकी कृपा के बिना हो ही नहीं सकती—यह तो स्पष्ट है। इसीसे गोस्वामी जी ने कहा—'सोई जानत जेहि देहु जनाई।' तुम्हें वहीं जान सकता है जिस

पर तुम कृपा करो और उसे अपने रूप का दर्शन करा दो।

लेकिन इस सिद्धान्त को ठीक से समझने की आवश्यकता है। ईश्वर की कृपा के बिना ईश्वर-दर्शन नहीं हो सकता और ईश्वर की कृपा किस पर होगी यह ईश्वर के ही हाथ है। तब तो फिर किसी प्रकार के साधन-भजन की आवश्यकता ही नहीं है। ये सब व्यर्थ के आयास-प्रयास हैं। क्योंकि आप चाहे जो कुछ भी क्यों न करें, और जीवन भर, अपने सारे जीवन भर, पूरे मनोयोग से ही क्यों न करते रहें—अगर ईश्वर की कृपा नहीं हुई तो कुछ न होगा। और अगर ईश्वर की कृपा हो गयी तो फिर बिना कुछ किये ही सब कुछ हो जायगा। ईश्वर-लाभ हो जायगा, आत्म-साक्षात्कार हो जायगा, मोक्ष-प्राप्ति हो जायगी। तब फिर साधक के लिए अपनी ओर से कुछ करने की बात ही कहाँ उठती! नहीं, ऐसा नहीं है। अपनी कृपा के विषय में सर्वथा स्वतन्त्र रहने पर भी ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के कुछ उपाय और विधान भी हैं।

ये उपाय बड़े ही सरल हैं। हाँ, सरल किन्तु रोमांचक। ईश्वर की कृपा हमें प्राप्त हो, इसके लिए हाथ पर हाथ रख कर उनकी कृपा बरसने के समय तक की प्रतीक्षा किये बिना हमें सरल-सहज भाव से उन्हें पुकारना चाहिए। हमें अपने को ईश्वरोन्मुख कर देना चाहिए। ईश्वरोन्मुखता और ईश्वर की आतुर-आकुल पुकार—ये ही दो सरल सूत्र हैं ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के। कबीर के पास ये ही सूत्र थे। श्रीरामकृष्ण के पास भी ये ही सूत्र थे। सभी साधकों के पास ये ही सूत्र रहे हैं—प्रभु की कृपा पाने के।

संत कबीर कहते हैं—

आँखड़ियाँ झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीहरिया छाला पड़ा पीउ पुकारि-पुकारि॥

कबीर की आँखों में झाईं पड़ गयी प्रियतम की बाट जोहते-जोहते और जीभ पर फफोले निकल आये प्रियतम का नाम रटते-रटते, पुकारते-पुकारते।

प्रियतम की बाट, ईश्वर की कृपा की प्रतीक्षा करना है। प्रतीक्षा, प्रतीक्षा और प्रतीक्षा। अनन्त प्रतीक्षा। जल्दबाजी क्या है! शीघ्रता क्या है! अधीरता क्या है! अनंत-अशेष धैर्य के साथ प्रभु के आगमन की, अपने भीतर उस दिव्य चैत्य सत्ता के अवतरण की प्रतीक्षा करनी है। 'कालेनात्मनि विन्दति'। समय पर—उपयुक्त समय पर आत्म तत्त्व की उपलब्धि होगी। हमें तो केवल अपने को उन परम करुणामय, चिदानन्द संदोह, नित्य मंगलमय भगवान् की ओर उन्मुख कर देना है। हम इतने ही के अधिकारी हैं। आगे की बात हमारे वश की बात नहीं है। हाँ, एक बात और हमारे वश की है। वह है प्रभु के नाम की पुकार। कबीर की जीभ पर छाले पड़ गये हैं, प्रभु का नाम लेते-लेते। बड़ी मुश्किल पड़ गयी है महात्मा कबीर को। जीभ ऐंठ गयी है। अब कैसे नाम लिया जाय प्रभु का! कबीर का विश्वास जीभ पर से उठ जाता है। अब तो उनका रोम-रोम प्रिय का नाम लेने लगता है—'रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुख की सरधा नाहिं।' मुँह पर से श्रद्धा-विश्वास उठ गया। रोम-रोम जीभ हो गया। यह है पुकार—आतुर पुकार। यह है प्रभु की कृपा पाने की विकलता का आस्फालन!

भगवान् रामकृष्ण बड़े आर्त भाव से दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में उपस्थित होकर भगवती भवतारिणी से कहा करते थे—'माँ, आज का भी दिन व्यर्थ ही चला गया। तुमने दर्शन नहीं दिये। सुना है, तुमने रामप्रसाद को दर्शन दिये थे, माँ! क्या यह सच नहीं है! फिर मुझे क्यों नहीं दर्शन देती माँ!' यह आतुर पुकार थी। यह पुकार थी एक नित्य सिद्ध, अवतार-वरिष्ठ साधक की जो उनके प्राणों से अहरह उठा करती थी।

पुकार, यानी प्रार्थना! पुकार व्यर्थ नहीं जाती। प्रार्थना निष्फल नहीं होती। हर पुकार, अगर वह पुकार प्राणों की अतलता से छन कर निकले, सुनी जाती है। हर प्रार्थना अगर वह प्रार्थना मर्म की तलहटी को फोड़ कर निकले, सुनी जाती है और उत्तरित होती है।

जीसस ने कहा—'खोजो, और तुम पाओगे।

खटखटाओ और तुम्हारे लिए द्वार खुलेगा। पुकारो और तुम्हें उत्तर मिलेगा'।

कुछ लोग गुरु से कृपा की याचना करते हैं ताकि उन्हें सहज ही ईश्वर की कृपा मिल जाय। स्वामी विवेकानन्द जी के एक बड़े प्रिय शिष्य ने स्वामी जी से कृपा प्रदान करने का आग्रह किया था। इस संदर्भ में स्वामी जी से हुए उनके वार्तालाप मैं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूँ। शिष्य ने स्वामी जी से अनुनय किया था—"प्रभो, अब मेरा उद्धार करना ही होगा!"

स्वामी जी—कौन किसका उद्धार कर सकता है, बोल? गुरु केवल कुछ आवरणों को हटा सकते हैं। उन आवरणों के हटते ही आत्मा अपनी महिमा में स्वयं ज्योतिष्मान होकर सूर्य की तरह प्रकट हो जाती है।

शिष्य—तो फिर शास्त्रों में कृपा की बातें क्यों सुनते हैं?

स्वामी जी—कृपा का मतलब क्या है, जानता है? जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है, उनके भीतर एक महाशक्ति खेलने लगती है। ऐसे महापुरुष को केन्द्र बनाकर थोड़ी दूर तक व्यासार्द्ध लेकर जो एक वृत्त बन जाता है, उस वृत्त के भीतर जो लोग आ पड़ते हैं, वे उनके भाव से अनुप्राणित हो जाते हैं। अर्थात् वे उस महापुरुष के भाव में अभिभूत हो जाते हैं। अतः साधन भजन न करके भी वे अपूर्व आध्यात्मिक फल के अधिकारी बन जाते हैं। इसे यदि कृपा कहता है तो कह ले।

शिष्य—महाराज, क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार कृपा नहीं होती?

स्वामीजी—वह अवतार आते हैं, तब उनकी लीला के साथ मुक्त एवं मुमुक्षु पुरुषगण उनकी लीला की सहायता करने के लिए देह धारण करके आते हैं। करोड़ों जन्मों का अन्धकार हटाकर केवल अवतार ही एक जन्म में मुक्त कर दे सकते हैं, इसी का अर्थ है कृपा। समझा?

शिष्य—जी हाँ; परन्तु जिन्हें उनका दर्शन नहीं हुआ, उनके उद्धार का क्या उपाय है?

स्वामीजी—उनका उपाय है—उन्हें पुकारना। पुकार-पुकार कर अनेक लोग उनका दर्शन पाते हैं, ठीक हमारे जैसे शरीर में उनका दर्शन करते हैं और उनकी कृपा प्राप्त करते हैं।[1]

अतः प्रभु की कृपा प्राप्त करने का एक महत्तम उपाय है प्रभु को प्राणपण से पुकारना। इसी पुकार की प्रथम कड़ी है—ईश्वरोन्मुखता यानी ईश्वर की ओर अपने को सर्वात्म भाव उन्मुख कर देना। कमल रात की गहन कालिमा में भी अपने को आकाश की ओर उठाये रहता है, एक विश्वास से कि कभी तो उस पर सूरज की कृपा-दृष्टि पड़ेगी। और तब एक चमत्कार घटित होता है उसके जीवन में। रात की कालिमा मिटती है। पौ फटती है। पूरब की दिशा में भगवान् बाल-अरुण का आगमन होता है और उनकी अनन्त स्वर्णाभ किरणें उस सूर्योन्मुख कमल पर बरस जाती हैं। फिर तो गजब हो जाता है। कमल के दल खिल उठते हैं। पराग झड़ने लगता है। रस-निर्झर बहने लगता है। एक मादक गंध-धारा से वातावरण महमहा उठता है। भौरे गूँजने लगते हैं। आनन्द, आनन्द और परमानन्द का राज्य स्थापित हो जाता है उस कमल के जीवन में। कैसे हुआ यह सब! केवल इसलिए कि उस निविड़-तिमिर के घन अन्धकार में भी उस कमल ने हिम्मत नहीं हारी थी। विश्वास नहीं खोया था। वह बराबर अपना मुँह सूर्य की ओर उठाये रहा। इसीसे उसके जीवन में रस-पर्व का अवतरण हुआ। गंधोत्सव हुआ। सूर्य की कृपामयी किरणों की बाँह में सिमट कर उसने अपने जीवन में धन्यता प्राप्त कर ली। वह अपनी पूर्णता में खिल उठा। प्रभु की कृपा पाने के लिए ईश्वरोन्मुख होना ही पड़ेगा।

मैंने कभी एक कविता पढ़ी थी। उसकी एक पंक्ति थी— उठा पाल नाविक, चढ़ा आज लंगर!' कवि नाविक से कह रहा है—'अरे भाई माँझी! तू अगर नदी के उस पार जाना चाहता है तो नदी के तीर पर गड़े जिस लंगर से तुमने अपनी नाव को बाँध रखा है उस लंगर को उठाकर नाव पर रख ले। देख, शीतल मन्द समीर बह रहा है

1. विवेकानन्द जी के संग में : श्रीशरच्चन्द्र चक्रवर्ती : श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर पृ० ३४३-४४।

वायु अनुकूल है। तू नाव का पाल तान ले। तरी को नदी में छोड़ दे। फिर आसानी से तेरी तरी उस पार जा लगेगी।' बड़ी प्यारी और अनुभूतिपूर्ण पंक्ति है यह। एक कथा याद आती है। अमावस की रात थी। आकाश में तारे छिटके हुए थे। नीचे पेड़ों के पत्ते विराट् मौन में पड़े थे। एक नाव नदी के किनारे लगी थी। दो शराबियों ने सोचा नौका-विहार किया जाय और उस पार तक जाया जाय। दोनों ने हाथ में पतवार सँभाली। रात भर पूरी मिहनत से नाव खेते रहे। सुबह हुई तो वे हैरान हो गये यह देख कर कि नाव किनारे से एक गज भी आगे नहीं बढ़ी थी। उनकी मिहनत में कोई कसर नहीं थी। रात भर नाव हिलती डुलती रही। उन्हें लगता रहा कि नाव आगे बढ़ रही है। मगर नाव जहाँ की तहाँ थी। क्यों? मात्र इस कारण कि नाव किनारे पर गड़े खूँटे से एक रस्सी के सहारे बँधी थी। रस्सी खोली नहीं गयी और पतवार चलती रही। नाव बढ़ती तो कैसे? पाल उठाने की बात तो बाद में उठती। अभी तो नाव खुली ही नहीं थी।

हमारी जिन्दगी की नाव भी संसार-सरिता के तट पर किसी माया मोह के रस्से से बँधी हुई है। अज्ञान के मोहक अन्धकार में पड़े हम चाहे कितने भी साधन-भजन क्यों न करें हमारी तरी उस पार तक तिर कर पहुँच नहीं सकती।

इसलिए, हमें अपना लंगर चढ़ा लेना होगा—माया, मोह और विषयासक्ति के रस्सों को समेट लेना होगा और तब साधन-भजन का पाल तान देना होगा। फिर तो ईश्वर की कृपा बरसेगी ही। कृपा की उस रिमझिम फुहार में हमारे मन-प्राण शीतल हो जायेंगे और हम आनन्द के लोक में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। ऐसी ही फुहार में भींग कर कबीर ने कहा—

गगन गरजि बरसै अमी बादल गहिर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी भींजै दास कबीर॥

पाल का उठाना जीवन में एक महान् क्रांति का घटित होना है।

लंगर का उठा लेना अपने में एक पूरे बदलाव, एक पूरे परिवर्तन, एक पूरे रूपान्तरण की तैयारी कर लेना है। लेकिन हम लंगर क्यों नहीं चढ़ा लेते? पाल क्यों नहीं उठा लेते? देर क्यों है? विलम्ब किस बात का है?

हम डरते हैं। बदलाव से हम डरते हैं। परिवर्तन से हमें भय होता है। हम एक खास तरह का जीवन जीने के अभ्यासी हो गये हैं। पाल हम तभी उठा सकते हैं जब बाह्य संसार के खोखलेपन को हम पहचान लें, ठीक से। पाल हम तभी उठा सकते हैं जब हमारा अन्तर श्रद्धा विश्वास से पूर्ण हो। ईश्वर में, प्रभु के पाद-पद्मों में पूरी श्रद्धा हो तो हम पाल उठाने का खतरा मोल ले सकते हैं। एक नये गीतकार की पंक्तियाँ हैं—

दर्द सारे तमाम हो जाते।
हम, जो केवल प्रणाम हो जाते।

कवि ने ठीक कहा है। हमारा प्रणाममय हो जाना ही काफी है। मात्र हमारी समग्रगत प्रणति प्रभु को हम तक खींच लायेगी। फिर दुःख कहाँ? पूर्ण प्रणति, पूर्ण शरणागति का भाव क्या श्रद्धा-विश्वास के अभाव में आ सकता है? लेकिन जिसके हृदय-मंदिर में भोग-विलास और विषय-वासनाओं की प्रतिमाएँ पहले से ही प्रतिष्ठित हों वहाँ श्रद्धा-विश्वास के भवानी-शंकर कैसे अधिवास ले सकेंगे? हृदय-मन्दिर को पहले खाली करना होगा भोग-विलास के हिम-खण्डों से। फिर उसमें प्रतिष्ठित करना होगा श्रद्धा-विश्वास के देवदूतों को। और श्रद्धा-विश्वास से पूर्ण हृदय में एक सहज पवित्रता का चन्दन-वन स्वतः लहराता रहेगा। तभी ईश्वर की कृपा हम पर बरसेगी। ईश्वर-लाभ होगा और आत्म-साक्षात्कार होगा। जब तक हम नाव को बाँधकर पतवार चलाते रहेंगे, ईश्वर की कृपा हम पर नहीं उतरेगी।

स्वामी विवेकानन्द जी से उनके एक प्रिय शिष्य ने जब यह पूछा कि 'श्रीरामकृष्ण तो कहा करते थे, ईश्वर कृपा होने पर, उन्हें पुकारने पर वे इन सब आसक्तियों को एक पल में मिटा देते हैं।' तब स्वामी जी ने उन्हें उत्तर दिया था—'हाँ, उनकी कृपा होने पर ऐसा अवश्य होता है, परन्तु उनकी कृपा प्राप्त करनी हो तो पहले शुद्ध, पवित्र बन जाना चाहिये; तभी उनकी कृपा होती

है, ।' जब शिष्य ने पुनः तर्क किया कि 'काय-मनोवाक्य से यदि संयम कर सके, तो फिर कृपा की आवश्यकता ही क्या है ? तब तो फिर स्वयं अपनी ही चेष्टा से आत्मोन्नति की हुई समझी जायगी ।' तब स्वामी जी ने दृढ़ता से उन्हें समझाया—'तुझे प्राणपण से चेष्टा करते देखकर ही वे कृपा करेंगे । उद्यम या प्रयत्न न करके बैठे रहो तो कभी कृपा न होगी ।'[2] यही चेष्टा लंगर चढ़ाने और पाल उठाने की है ।

और यह चेष्टा बहुत श्रमसाध्य नहीं है । ईश्वर की ओर उन्मुखता, ईश्वर के प्रति समर्पण, ईश्वर की आकुल-श्रद्धापूर्ण प्रीतिमय, रसमय और आत्मीय पुकार और तन, मन, वचन तथा कर्म से पवित्रता—ये ही वे चेष्टाएँ हैं जिनके आधार पर ईश्वर की कृपा की मन्दाकिनी हम पर फूट पड़ती है । पाल उठाने की ये ही वे भंगिमाएँ हैं जिनसे द्रवित होकर परम करुणाघन की करुणा हम पर फूट पड़ती है और हमारा उनसे साक्षात्कार होता है और हम उन्हें जानकर उनसे एकाकार हो जाते हैं—'जानत तुमहिं तुम्हहि होइ जाई ।'

तो मेरे मित्रों, आइए, हम-आप ईश्वर-लाभ के लिए आत्मज्ञान के लिए, महा मुक्ति के लिए—एक नवीन ईश्वरीय जीवन जीने के लिए अपना-अपना पाल उठा लें—आज से और अभी से । हम नहीं जानते, कल हमारा क्या होगा ! हम नहीं जानते, अगले पल हमारा क्या होगा ! क्रान्ति, जीवन-क्रान्ति की सर्वोत्तम और उपयुक्त घड़ी यही है । इसमें हम चूके तो सदा के लिए चूक जायेंगे । ईश्वर के बिना बहुत दिन जिये, अब ईश्वर के साथ जीने की तैयारी अभी से कर दें । यह महाभिनिष्क्रमण, यह महायात्रा अभी से शुरू कर दें । भगवान् श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'कृपा की वायु तो बहती ही रहती है, तू अपना पाल क्यों नहीं उठा देता ।' वस्तुतः ईश्वर-लाभ के किए हम सब अपना पाल उठा लें तो हम भौतिकी के जगत् से आत्मिकी के लोक में, धरती की धूल से परमात्मा के फूल में और अज्ञान के पंक से अखण्ड ज्ञान के श्रीखण्ड वन में स्वतः प्रतिष्ठित हो जायेंगे । हमारी जीवन-नौका सहज ही भवसागर के पार लग जायेगी ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण हम सब में अपना पाल उठाने का सहज बल और आत्मिक अभिक्रम प्रदान करने की कृपा करें—यही मेरी उनसे प्रार्थना है । जय रामकृष्ण ।

निष्ठापूर्वक जप, तप और कार्य करते रहो । तभी तुम्हें उनकी कृपा प्राप्त होगी । उनकी कृपा पृथ्वी के सभी प्राणियों पर निरन्तर बरस रही है । उनकी याचना करना अनावश्यक है । निष्ठापूर्वक ध्यान करते रहो । और तब तुम्हें उनकी अनन्त कृपा का ज्ञान हो जाएगा । ईश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम चाहते हैं । केवल बाहरी शाब्दिक उच्चारण उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

—श्री सारदा देवी

---

2. विवेकानन्द के संग में : शरच्चन्द्र चक्रवर्ती : पृ० २२७ ;

ज्ञान योग का प्रतिफलन

—श्रीमत स्वामी अनन्यानन्दजी महाराज
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती, (हिमालय)

ईश्वर लाभ के हेतु अनेकानेक साधन-पथों का विधान है। भारत के अधिकांश निवासियों में, जो वेदों में प्रतिपादित धर्म का अनुसरण करते हैं, और जिन्हें भ्रमवश 'हिन्दू' कहा जाता है, इस तरह की विचार-धारा दृढ़ विश्वास के रूप में जीवित रही है। भारतीय परंपरा में यह एक सनातन, अविचल आस्था रही है। अतिप्राचीन एवं 'धूमिल' वैदिक युग से 'प्रबुद्ध' आधुनिक काल तक जीवित इस दृढ़ आस्था ने भारत के लोगों के धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन को उद्बोधन एवं संपोषण प्रदान किया है। प्रत्येक पीढ़ी या युग में बार-बार प्रकट होकर, इस पवित्र भूमि के ऋषियों और संतो ने न केवल अपनी पवित्र वाणी में इसका पुनर्कथन किया है, बल्कि इसकी सत्यता को अपनी जीवन-प्रणाली से चरितार्थ और प्रमाणित भी किया है। वैदिक ऋषि ने घोषित किया था: 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति," अर्थात् सत्य एक है; मनीषियों ने उसके विभिन्न नाम दिए हैं। ईश्वर-लाभ को उपलब्ध इन महापुरुषों की इसी सनातन श्रृंखला में अवतरित श्री रामकृष्ण ने स्वयं विभिन्न साधन-पथों का 'प्रयोग' करके वेदोक्त घोषणा के सत्य का अनुभव किया, तथा विगत शताब्दी के आधुनिक जगत के प्रबोधनार्थ यह घोषणा की; "यतो मत ततो पथ", अर्थात जितने प्रकार की आस्थाएँ हैं, उतने ही अनेक साधन-पथ भी हैं। उनके प्रख्यात शिष्य तथा भारतीय पुनर्जागरण के उत्प्रेरक स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'राजयोग' के प्रसिद सूत्र कथन में इसी सत्य की घोषणा की है: "—प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व अंतर्निहित है। बाह्य तथा आंतरिक प्रकृति का नियमन करते हुए इस अंतर्गभित ईश्वरत्व को अभिव्यक्त करना ही परम लक्ष्य है। कर्मानुष्ठान से, पूजा-उपासना से, धारणा-ध्यान रूप मानसिक संयमन से या ज्ञान-विज्ञान दर्शन से—इनमें से किसी एक या एक-से-अधिक या सभी की सम्यक् साधना से परम मुक्ति को उपलब्ध हुआ जाता है। स्वस्थ-संपूर्ण धर्म का यही सार है।"

भारतीय धर्म-परंपरा में 'इष्ट देवता' की धारणा के कारण आध्यात्मिक जीवन में बहुविध-विभिन्न साधन-पथों की संभावना हो जाती है। फिर भी, साधक से यही अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार चयन किए हुए इष्ट-पथ पर ही उत्साह एवं तत्परता से नियोजित होगा। हिन्दुओं का सुप्रसिद्ध, शीर्ष धर्मग्रंथ श्री भगवद्गीता, जिसे एडविन आर्नल्ड ने 'स्वर्गीय संगीत' कहा था, मानव जाति के समक्ष आध्यात्मिक साधना की विविध प्रक्रियाओं को उद्घाटित करती है। उनमें से जो सबसे अच्छा लगने वाला, रूचि के अनुकूल मार्ग हो, हम उसी का चयन करते हुए, अध्यवसाय और ध्यान पूर्वक उस एकमात्र लक्ष्य की प्राप्ति में तत्पर हो सकते हैं। वृत्त की अनेक त्रिज्याओं की तरह, जो परिधि के विभिन्न विन्दुओं से चलकर एकमात्र केन्द्र-विन्दु पर मिल जाती हैं या अनेकानेक नदियों की तरह, जो विश्व के विभिन्न भागों में उत्पन्न होकर भी अंततः महासागर में विलीन हो जाती है; संसार में प्रचलित नाना प्रकार की आस्थाएँ भी हमें ईश्वर-रूप एकमात्र परम लक्ष्य की ओर ले चलती हैं, चाहे हम उसे किसी नाम से क्यों न अभिहित करें।

मानवीय व्यक्तित्व के प्रमुख घटक-तत्त्वों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक साधना के चार प्रधान पथ या चार प्रमुख अनुशासन-क्रम हैं। वे हैं: कर्म-योग (जो संकल्प या इच्छा-शक्ति से संभव होता है) भक्ति योग (जो भाव शक्ति का विकास है), राजयोग (जो

चैत्य या मानसिक शक्ति से स्पंदित होता है), तथा ज्ञान-योग (जो विचार या मेधा-शक्ति से उन्मीलित होता है)। हम इन्हें अहंकृति रहित, निष्काम एवं समर्पित कर्म निष्ठा का पथ; भक्ति-प्रेममयी भावनिष्ठा का पथ; एकाग्रता, धारणा एवं ध्यान-निष्ठा का पथ, तथा ज्ञान-विज्ञान या दार्शनिक निष्ठा के साधन-पथों की संज्ञा से भी क्रमशः अभिहित करते हैं। हमलोग ज्ञान के साधन-पथ तथा उसके साध्यगंतव्य का अनुसंधान करेंगे, और इस मार्ग के अवलंबन के लिए निर्दिष्ट अभ्यास या अनुशासन की क्रम-व्यवस्थाओं से निष्ठापूर्वक गुजरने के 'फल' पर भी विचार करेंगे।

'योग' शब्द संस्कृत भाषा के अपने मूल 'युज्' धातु से संसिद्ध होता है, जिसका अर्थ 'मिलना', 'जुड़ना' या अभिन्न होना है। अँग्रेजी के शब्द 'yoke' (योक्) का भी वही अर्थ है। भारतीय धार्मिक पारिभाषिक शब्दावली में, 'योग' शब्द का अर्थ 'भक्तियोग' की दृष्टि से भक्त एवं उसके इष्टदेव का तादात्म्य या परस्पर संग-रस प्रदान करना है, तथा 'ज्ञान योग' की दृष्टि से इसका अर्थ है, जीवात्मा से परमात्मा की अभिन्नता या ऐक्य को उपलब्ध होना। यहीं यह भी कह देना समीचीन होगा कि जीवात्मा एवं परमात्मा के आध्यात्मिक ऐक्य या उनकी वास्तविक अभिन्नता के अनुभव में उपनीत होना ही 'ज्ञान योग' की चरमोपलब्धि है। इस विषयका सम्यक् विश्लेषण करने के लिए हमलोग 'भगवद्गीता, का आश्रय लेंगे, जो योगमार्ग की विषय-वस्तु का विशद तत्त्व-विवेचन प्रस्तुत करती है, तथा पाश्चात्य जगत के समक्ष परमोच्च भारतीय दर्शन के आधुनिक प्रस्तोताओं में सर्वाधिक विशिष्ट एवं प्रख्यात स्वामी विवेकानन्द की अमृत वाणी का अनुशीलन करेंगे, जिन्होंने पूर्वोक्त योग चतुष्टय में प्रत्येक पर पृथक ग्रंथ लिखकर ग्रंथ चतुष्टय का प्रणयन किया है।

भारत की धर्म-परम्परा के अनुसार 'गीता' भी अनेक मार्गों का समर्थन एवं उनका तत्त्व-विवेचन प्रस्तुत करती है, जिससे हम भगवान् से तदात्म या अभिन्न होने के लिए निर्देशित एवं संप्रेरित होते हैं। यही कारण है कि हम सभी प्रधान योग मार्गों के सम्बन्ध में स्वतंत्र तथा यत्र-तत्र भी विचार-विवेचन, इस ग्रंथ में पाते हैं, यद्यपि 'कर्म योग', 'भक्ति-योग', 'ज्ञानयोग' आदि नामों से इनके विशिष्ट अध्याय भी हैं। जैसे, दूसरे अध्याय को 'सांख्य योग' कहा गया है, वहाँ हम अनेक श्लोकों में ज्ञान योग के तत्त्व या भाव-स्पंदन पाते हैं, और कुछ श्लोक कर्मयोग के आयाम का भी स्पर्श करते हैं। 'गीता' में 'सांख्य' एवं 'ज्ञान' ये दोनों शब्द पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग नामक तेरहवें अध्याय में हम पुनः उन नैतिक तथा आचरणगत विशिष्ट गुणों की लंबी सूची पाते हैं, जो 'ज्ञान-योग का अवलम्बन करनेवालों में अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। (श्लो०७—११)

विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से सम्पूर्ण गीता का क्रमबद्ध अध्याय-समूहों में अंतर्वर्गीकरण किया है। छः अध्याय-क्रमों के तीन खंडसमूहों में इसका सर्वाधिक सामान्य वर्गीकरण उपलब्ध होता है। इस वर्गीकरण के अनुसार प्रथम षष्ठाध्याय में 'कर्म' एवं 'राजयोग' का विवरण है, यद्यपि चतुर्थ अध्याय, जो 'ज्ञानयोग' के रूप में परिचित है, इस विभाजन का अन्तर्वर्ती है। द्वितीय षष्ठाध्याय (अ० ७—१२) 'भक्तियोग' का तथा तृतीय या अन्तिम षष्ठाध्याय (अ० १३-१८) 'ज्ञान योग' का विवरण प्रस्तुत करता है। प्रसिद्ध पवित्र धर्मग्रन्थ श्री भगवद्-गीता के उक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में विचारवैभिन्य सम्भव है। किंतु, साधारणतः इस विभाजन को हम तर्क संगत तथा उपयोगी होने के कारण समीचीन एवं मान्य ही पाते हैं।

इसके अतिरिक्त, श्री मधुसूदन सरस्वती द्वारा किया हुआ एक दूसरे प्रकार का ही पारम्परिक वर्गीकरण है। उन्होंने भी, पूर्वोक्त प्रकार से ही, गीता को छः अध्याय-समूहों के त्रिविध उपखण्डों में वर्गीकृत किया है। किंतु इन तीन उपखण्डों या विभागों के संदर्भ में उनकी व्याख्या आकर्षक है, और प्रस्तुत निबन्ध की विषय-वस्तु के बहुत ही संदर्भानुकूल तथा संगत है। उनका कहना है कि प्रथम छः अध्यायों के क्रमखण्ड में 'त्वम्' का तत्त्व-निरूपण या जीवात्मा का विवेचन हुआ है; दूसरे षष्ठाध्याय में 'तत्' का तत्त्वानुसंधान या परमात्मा के स्वरूप का निर्वाचन

हुआ है; और तीसरे षष्ठाध्याय में इन दोनों के संबंध का उद्घाटन तथा उनकी अभिन्नता या ऐक्य का प्रस्थापन करते हुए, 'तत्त्वमसि' महावाक्य का समर्थन किया गया है। अद्वैतवादी होने के कारण श्री मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत दृष्टि से 'गीता' की व्याख्या की है, और यह स्वाभाविक है कि उन्होंने अपने भाष्य में ज्ञान पर जोर दिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'गीता' का महत्व योगियों, कर्मयोगियों या भक्तों के लिए थोड़ा भी कम है। उत्साह एवं तत्परता से प्रयत्नशील सभी आध्यात्मिक साधकों तथा दृष्टि-संपन्न मेधावी जिज्ञासुओं के लिए, गीता में उनके सम्यक् विकास तथा साध्य की उपलब्धि के हेतु पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त होती है।

तो 'ज्ञान योग' क्या है? श्री मधुसूदन सरस्वती के पूर्वोक्त गीताभाष्य से स्पष्ट है कि जीवात्मा से परमात्मा की अभिन्नता या ऐक्य का प्रस्थापन ही गीता का प्रतिपाद्य या लक्ष्य है। इस तरह 'ज्ञान योग' वह विशेष साधन-पथ है, जिसमें ज्ञान का नियोजन इस अभिन्नता या ऐक्य रूप आध्यात्मिक परिणति के लिए ही होता है। प्रस्तुत निबन्ध में यह पूर्णता या परिणति ही 'ज्ञानयोग का प्रतिफलन' शीर्षक से वर्णित हुई है। वस्तुतः, यही वह परम लाभ या परमोच्च अनुभव है, जिसे वेदांत के विशाल साहित्य, विशेषतः उपनिषदों में बारम्बार उजागर किया गया है। गीता में उपनिषदों के ज्ञान का सार निहित है। यह गोरूप उपनिषदों का दुग्धामृत है। अद्वैतियों के द्वारा बहुधा उद्धृत 'उत्तर गीता' का एक जनप्रिय श्लोक है: 'एक श्लोकार्द्ध में तुम्हें लाखों धर्म ग्रंथों का सार कहूँगा: 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः' अर्थात् 'ब्रह्म सत्य है, संसार प्रतीति है, माया है; जीवात्मा ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है; दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जीव ही ब्रह्म है।'

'ज्ञान योग' की साधना पूर्वोक्त श्लोक के सार-संदेश का आत्मीय अन्तर्ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है। यह श्लोक, वस्तुतः, शीर्ष वैदिक महावाक्यों यथा 'सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि की सम्मिलित सघन गूँज है। मेधा और भाव की समन्वित शक्तियों से संभव इस प्रकार के सार्वभौम, सर्वाश्लेषी अनुभव चरम एवं अद्वितीय होते हैं। इसमें अपनी आध्यात्मिक आत्मसत्ता का पूर्ण अनुभव है, जो सर्वव्यापी, सर्वग्राही एवं सम्पूर्ण है। इस प्रकार की परा आध्यात्मिक अनुभूति से कुछ भी विजातीय एवं बहिर्गत नहीं होता प्रत्युत् सब कुछ इसमें अन्तर्गत एवं स्वीकृत होता है। यावज्जगत के नामरूपात्मक समस्त जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण भूतों में ज्ञानयोगी स्वयं को ही देखता है। एकमेव सबको अंगीकृत करता तथा सबमें स्पंदित होता है। उपनिषदों में ज्ञानपथ से चरम आध्यात्मिक अनुभूति को उपलब्ध योगी की स्वरूप महिमा का चित्रण हुआ है। स्वयं 'गीता' ही उद्घोष करती है कि ज्ञानयोगी समदर्शी हो जाता है। वह सब को समदृष्टि से देखता है—चाहे वह विद्वान और विनयशील ब्राह्मण हो, या गाय, हाथी, कुत्ता या चांडाल ही क्यों न हो। (अ० ५; श्लो० १८) ऋषि-महर्षियों एवं संतों ने इस अनुभव को प्रमाणित किया है, और वे इसके साक्षी हैं।

ज्ञानपथ के साधक की आवश्यक योग्यताएँ कौन सी है? अद्वैत वेदांत के कतिपय ग्रन्थ साधन चतुष्टय का निर्वचन करते हैं: ये उनके लिए आवश्यक चार साधन-सोपान हैं। अपने सुविख्यात ग्रंथ 'विवेक-चूड़ामणि' के प्रारम्भ में, भूमिका के कुछ श्लोकों के बाद, श्री शंकराचार्य ने इन साधनों का निर्देश किया है। ये हैं: (१) नित्यानित्य वस्तु-विवेक, (२) इहामुत्रफल-भोग-विराग; (३) शमादि षट् संपत्ति—अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, शास्त्र एवं सद्गुरुवाणी में श्रद्धा, समाधान अर्थात् सत्यनिष्ठा में अनन्य आत्मस्थिति; (४) और मुमुक्षत्व, अर्थात् परामुक्ति या कैवल्य के लिए तीव्र अभीप्सा। (श्लो०१९-२७) इन नैतिक एवं आचारगत गुणों को सतत् अभ्यास से प्राप्त करके ऐसे ज्ञान गुरु के निर्देशन का आश्रय लेना चाहिए, जो स्वयं ब्रह्मनिष्ठ हों, और जिन्होंने परम सत्य का अनुभव करके ब्रह्म भाव में अविचल स्थिति पायी हो। 'गीता' में शिष्य के लिए अनिवार्य भावदृष्टि का निरूपण हुआ है: "उस ज्ञान को तुम प्रणतिमयी श्रद्धा से, तीव्र जिज्ञासा से, और व्यक्तिगत निष्कपट सेवा से, जान सकोगे। तत्त्वदर्शी ज्ञानगुरु जिन्होंने

परम सत्य का साक्षात् किया है, तुम्हें उक्त ज्ञान का उपदेश करेंगे।" (गीता, अ० ४, श्लो० ३४)।

स्वामी विवेकानन्द ने 'ज्ञानयोग' नामक अपनी पुस्तक के प्रायः सोलह अध्यायों में इस विषय की समग्र व्याप्ति पर आधुनिक पुरुषों एवं महिलाओं के लिए सहज-बोधगम्य शब्दावली में सरल, स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। इन सभी अध्यायों में से 'निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं: 'मानव का वास्तविक स्वभाव', 'माया और प्रतीति', 'सर्वगत ईश्वर', 'परम या अपरोक्ष अनुभूति', 'विभिन्नता में एकता', 'अमरत्व', 'आत्म तत्त्व', और 'वास्तविक एवं प्रतीयमान मानव'। इन विषयों की विवृति प्रस्तुत करने के क्रम में स्वामी जी की मनोभूमि सभी प्रधान उपनिषदों तथा उनकी मुख्य विचार धारा से संस्पंदित है।

विवेक एवं विचारपूर्वक इंद्रियों के विषयों को समुचित परिप्रेक्ष्य में समझते हुए ज्ञानयोग का साधक अंततः एकमात्र मूलभूत आध्यात्मिक सत्य या ब्रह्म के अनुभव तक पहुँचता है, जो सर्वव्यापी और सदैव है, अनादि-अनंत है, सर्वज्ञ, शाश्वत, नित्यशुद्ध एवं नित्यमुक्त है। यही वह एकमात्र सार्वभौम सत्य है, जो पूर्ण-स्वतन्त्र, अद्वितीय सत्-चित्-आनन्द के नाम से वर्णित होता है। उस परम सत्य के अनुभव से, दृश्य के सभी अनित्य एवं परिवर्तित चक्रों में एकमात्र नित्य ब्रह्म तत्त्व के प्रातिभ अंतर्ज्ञान से, अनेकताओं में एकमेव के बोध से, जो साधक की आत्मा या निजस्वरूप है, ज्ञानी के चित्त में पवित्र, निष्कपट वैराग्य का उदय होता है, जिससे उसका मन जगज्जाल से निवृत्त हो जाता है। उसको यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है, और न तो वह कर्मफलों का भोक्ता है। इस संदर्भ में गीता कहती है: "सभी प्रकार के कर्म प्रकृति-सम्भव गुणों से ही किए जाते है: अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाले लोग समझते हैं कि 'मैं ही कर्त्ता हूँ'।' किंतु, हे महाबाहो अर्जुन! जो ज्ञानी महापुरुष प्रकृति के मूलभूत गुणों एवं उनके कर्मों से अपनी आत्मसत्ता के वास्तविक विभाजन या पार्थक्य से अवगत हैं, और जानते हैं कि गुणात्मक इंद्रियाँ ही अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, 'मैं' नहीं, वे इनमें कर्त्तापन के अभिमान से संलग्न या आसक्त नहीं होते।" (गीता अ० ३, श्लो० २७-२८)

'गीता' के दूसरे अध्याय के तेरहवें से पचीसवें श्लोकों में आत्मसंस्थ आत्मज्ञानियों की उपलब्धि एवं विशेषताओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। पुनः इसी अध्याय के पचपनवें से बहत्तरवें श्लोकों में स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षणों को परिभाषित किया गया है। ऐसा योगी आध्यात्मिक विवेक में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित रहता है। इस अध्याय के अन्त में हम उन प्रतिपत्तियों को पाते हैं, जिन्हें ब्रह्मस्थिति या ब्रह्म निर्वाण कहते हैं, जो ज्ञानियों को उपलब्ध होता है।

व्यक्तिगत या स्वार्थमूलक संकल्पों से निवृत्त तथा नित्यानित्य विवेक से संभव सार्वभौम समदर्शिता को उपलब्ध, ज्ञानी की कर्म-विधा या कर्म-प्रक्रिया का वर्णन 'गीता' के चतुर्थ अध्याय में प्राप्त होता है, जिसे खासकर 'ज्ञानयोग' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। पैंतीसवें से अड़तीसवें श्लोकों में विवेक-ज्ञान की प्रशंसा की गयी है, और अध्याय के शेषांश में श्रद्धा तत्त्व को रेखांकित किया गया है, जो उक्त ज्ञान को उपलब्ध होने के लिए अनिवार्य शक्ति है। (श्लो० ३९-४२)

यहाँ ध्यातव्य है कि 'गीता' प्रत्येक ईमानदार साधक के लिए आप्तकाम होने का मार्ग खोल देती है, चाहे उसकी मानसिक रचना या स्वाभाविक रुचि किसी प्रकार की क्यों न हो; तथा ज्ञानी एवं भक्त की, कर्मी एवं योगी की उपलब्धियों में किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं बतलाती है। यह बात इस तरह स्पष्ट होती है कि गीता के स्थितप्रज्ञ योगी (अ० २, श्लो० ५५) भक्त साधक (अ० १२, श्लो० १३), पूर्ण योगी (अ० ६, श्लो ६-९ तथा १८-३२), कर्मयोगी (अ० ३, श्लो० १७ एवं २७) और गुणातीत (अ० १४, श्लो० २२) के गुणों एवं विशेषताओं के वर्णन में आश्चर्यजनक समानता है। यहाँ तक कि इन सभी प्रकार के योगियों की विवृति प्रस्तुत करने में प्रायः समानार्थी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

इस तरह यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के फल की उपलब्धि संसार के इसी जीवन में, अभी और यहीं, हो सकती है। वर्त्तमान जीवन में ही ज्ञान के परमानन्द का आस्वादन संभव है। यह मरणोत्तर जीवन

में उपलब्ध होनेवाला परमोच्च श्रेय नहीं, बल्कि इसी जीवन में, 'करतलगत आमलक वत्' या तलहत्थी में रखे हुए फल की तरह प्रत्यक्ष होता है। इस अनित्य जीवन में परम ज्ञान को उपलब्ध महामानव का वर्णन करने के क्रम में 'गीता' स्वयं ही दिव्य शब्दावली में फूट पड़ती है: "समत्व भाव में स्थित योगी के द्वारा इस जीवित अवस्था में ही, इस लोक में ही, समस्त संसार विजित हो जाता है। सच्चिदानन्द परमात्मा निर्दोष, निर्विकार, निरंजन और समत्व-सम्पन्न हैं। यही कारण है कि समत्व भाव में प्रतिष्ठित महायोगी भी सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही स्थित है।" (अ० ५ श्लोक ११)

इस तरह की सिद्धि से सम्पन्न ज्ञानयोगी मन के सामरस्य तथा दृष्टि के समत्व को प्राप्त करता है। ईशोपनिषद् घोषणा करती है: "जो प्राणिमात्र को आत्म-स्वरूप में देखता है, और आत्मसत्ता को ही सभी जीवों में अनुस्यूत अनुभव करता है, वह उस परमानुभव के प्रसाद से ही सभी प्रकार के घृणा-भाव से निवृत्त हो जाता है। जब उपलब्ध पुरुष को सभी जीव आत्मस्वरूप ही प्रत्यक्ष हो जाते हैं, तो उस अद्वैत दृष्टि सम्पन्न ज्ञानी के लिए मोह या प्रमाद या दुःख की किंचित संभावना भी नहीं रहती।" (श्लो० ६-७) सार्वभौम, समदृष्टि संपन्न ज्ञानी के सम्बन्ध में 'गीता' के तेरहवें अध्याय में भी इसी तरह के भावों की अभिव्यक्ति हुई है: "स्थावर-जंगम यानी चराचर रूप समस्त प्राणियों में, सत्ता रूप से बिना भेद-भाव के जैसे सम हो, वैसे स्थित हुए परमात्मा को जो देखता है, इस तरह नाशवान वस्तुओं में भी उन्हें अवि-नाशी देखता है, वही पूर्णता से देखता है, दूसरा नहीं। क्योंकि सब जगह प्राणिमात्र में समान रूप से उपस्थित अर्थात् अखण्ड रूप से स्थित परमात्मा को समभाव से देखनेवाला अपने द्वारा अपने आप को नष्ट नहीं करता या अपनी हिंसा नहीं करता। अर्थात् अज्ञान के कारण सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का वह तिरस्कार करके विनष्ट नहीं होता या विनाश नहीं करता है; और इस तरह वह मोक्षरूप परम गति को प्राप्त होता है।" ('गीता', अ० १३, श्लो० २७-२८)

सार्वभौम आत्मानुभव या स्वरूपावस्थिति की धारणा से निर्देशित होकर हम एक दूसरे महत्वपूर्ण, अत्यधिक उपयोगी, एवं संगत विचारधारा तक अग्रसर होते हैं, जो समस्त अद्वैत वेदान्त के साहित्य में अंतर्प्रवाहित है:—वह है, अभय का संदेश। यही वह अभय या अदम्य बल या असीम प्राणवत्ता का संदेश है, जो वेदान्त केसरी स्वामी विवेकानन्द के लिए अत्यन्त चित्तग्राही हुआ था। भारत के लिए उनका यही संदेश था। वे अपने देशवासियों को आत्मविस्मृति की गहरी सुषुप्ति से जगा देना चाहते थे, जिससे वे एक राष्ट्र के रूप में पुनः अपने ही पैरों से खड़े होने में समर्थ हो सकें। यही कारण है कि उनके प्रति दिए हुए अपने व्याख्यानों में वे अभय एवं अदम्य शक्ति के सन्देश को बारम्बार दुहराने से कभी नहीं थकते थे।

आठ खंडों में संकलित अपनी सम्पूर्ण ग्रंथावली के अनेक सन्दर्भों में स्वामी विवेकानन्द ने बल एवं अभय के संदेश पर जोर दिया है। उन संदर्भों का सीधा सम्बन्ध था तत्कालीन भारतीय, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं से। किन्तु हमारे लिए वे आज भी उतने ही संगत एवं उपयोगी हैं। उपनिषदों का यह संदेश शाश्वत है, सनातन है, और विश्व में कहीं भी उपस्थित, किसी परिस्थिति के सन्दर्भ में सुसंगत एवं प्रयोजनीय है। बल, शक्ति-सामर्थ्य एवं अभय के इस संदेश से उर्ज्वस्वित, स्वामीजी के अत्यन्त उत्साहवर्द्धक प्रवचनों के कुछ चुने हुए उद्धरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं:

"बल! बल ही वह है, जो मंत्र-मुखरित होता है मेरे निमित्त—उपनिषदों के पन्ने-पन्ने से! यही है एकमात्र स्मरणीय महद्वस्तु, अमोघ महामंत्र! यही है वह एकमात्र महापाठ जो मुझे जीवन में पढ़ाया गया, एकमात्र महद् संदेश-उपदेश जिससे मैं उपदिष्ट हुआ। बल ही उद्घोषित है उपनिषदों में, इनके भीतर से गूंजता हुआ एकमात्र अमोघ जीवन मंत्र! ओ मानव! निर्बल न बनो।

तो मनुष्य पूछता है: "क्या कमजोरियाँ, मानवीय या स्वाभाविक नहीं हैं?" "हाँ हैं; कमजोरियाँ हैं"; अनु-मोदन करती हैं उपनिषदें, किन्तु क्या और—अधिक

निर्बलताएँ अपनाने से ही हो सकेगा कोई उनका उपचार या अपना स्वास्थ्य लाभ !

क्या तुम नियोजित होते हो कभी धूल से ही धूल को धोने के लिए ?

पाप से ही पाप का कैसा प्रक्षालन, उपचार ?

निर्बलता ही कैसे करेगी निवारण, निर्बलता का !

मात्र शक्ति, बल, सामर्थ्य
संदेश है, उपनिषदों का !
शक्ति ही संदेश है, ओ मानव !
उठो, और बलशाली हो जाओ !"

(ग्रं० : खं० ३, पृ० २३७)

"शक्ति ! शक्ति ही शुभ है, पुण्य है। निर्बलता पाप है ! उपनिषदों के आगार से निकलकर अगर कोई एक-मात्र शब्द हमारी ओर आता है—तो वह है 'अभय' ! जड़ता-प्रमाद की शिलीभूत अविद्या को अतिविस्फोटक बम की तरह विदीर्ण करनेवाला एकमेव मंत्र है—'अभय' !

भय दुख का संचालक है !

भय मृत्युवाही है, पाप का जनक है।

और भय उत्पन्न कैसे होता है ? अपने ही स्वभाव के अज्ञान से।" (वही : पृ० १६०)

"यह एक महान् तथ्य है कि बल जीवन है, और निर्बलता ही मृत्यु है। बल ही प्रसाद है। बल ही शाश्वत, अविनाशी जीवन है। बलहीनता सदैव कष्ट है, त्रास है, दुःख-ही-दुःख है।" (ग्रं०; पृ० २, पृ० ३)

"वेदान्त का संदेश है कि बलहीनता ही सभी दुखों एवं उत्पीड़नों का कारण है। हम इसी कारण दुखी या दयनीय होते हैं कि हम शक्ति रहित हैं। हम झूठ बोलते, चोरी करते, हत्या या दूसरे अपराध करते हैं—इसीलिए, कि हम बलहीन हैं। हम मृत्यु को प्राप्त होते हैं—इसी-लिए कि बलहीन हैं। जहाँ हमें कुछ भी अशक्त करनेवाला नहीं हैं, वहाँ मृत्यु और अवसाद नहीं है। हमलोग प्रमाद-वश दयनीय और पीड़ित हैं। प्रमाद को छोड़ते ही सारा दुख तिरोहित हो जाता है।" (वही; पृ० १९८)

'सभी प्रकार की शक्ति, सभी तरह के साहाय्य, संबल, जिन्हें तुम चाहते हो, तुम्हारे अपने ही भीतर हैं। अतः तुम अपना भविष्य स्वयं बनाओ—तुम्हारे समक्ष अनन्त भविष्य है। स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक शब्द विचार एवं कर्म संग्रहीत होता जाता है : जिस तरह बुरे बिचार और कर्म बाघ की तरह उछलकर तुमपर आक्रमण करने के लिए उद्यत रहते हैं, उसी तरह यह आशा रखो कि तुम्हारे शुभ विचार और शुभ कर्म हजार देवदूतों की ऊर्ज्जा से समन्वित होकर तुम्हारी रक्षा के लिए सदैव प्रस्तुत हैं।" (वही : पृ० २२५)

"बल ही जीवन में सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक है। धर्म में या और क्षेत्रों में, जोकुछ बलहीन बनाता हो, उसका परि-त्याग करो। उससे किसी प्रकार का संबन्ध नहीं रखो। (ग्रं : खं० १, पृ० १३४)

"उपनिषदें बल की खान हैं, शक्ति के बृहत् आकर हैं। उनमें समस्त विश्व को शक्ति-स्पंदित करने का बल है। उनके द्वारा समग्र विश्व को प्राणित, उर्ज्वस्वित और बलशाली बनाया जा सकता हैं। वे सभी धर्म, संप्रदाय और जाति के बलहीनों, पददलितों और दीन-दुखियों को आत्मनिर्भर होकर अपने ही पैरों पर खड़े होने के लिए आह्वान करते हैं। स्वाधीनता—भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता उपनिषदों का गुह्य महामंत्र हैं। (खं० ३, पृ० २३८)

"अपने समस्त उपदेशों में, प्रथम अनिवार्य जो मैं बताता हूँ, यही है: जो-कुछ-भी आत्मिक या मानसिक या शारीरिक बलहीनता प्रदान करता हो, उसे अपने पैर को छोर से भी मत स्पर्श करो। धर्म तो मनुष्य में अंतर्निहित नैसर्गिक शक्ति का ही प्राकट्य है।" (ग्रं०, खं ०८, पृ० १८५)

"यही कारण है कि मैं मात्र उपनिषदों की शिक्षा ही प्रदान करता हूँ। ध्यान देने से पता चलेगा कि उपनिषदों को छोड़कर अन्य कहीं से मैंने कोई उद्धरण नहीं दिया है। और, उपनिषदों से प्राप्त होती है—बलवत्ता की धारणा, प्राणवत्ता की प्रेरणा—और गूँजता है उनमें शक्तिमत्ता का संदेश जो मैं प्रदान करता हूँ।" (वही : पृ० २६७)

"अत: बल ही एकमात्र आवश्यकता है। बल ही भवरोग की दवा है। धनियों के क्रूर अत्याचारों से भू लुंठित दरिद्रों के लिए बल ही एकमात्र औषधि है। विद्वानों, पंडितों से उत्पीड़ित अपढ़-गँवारों के लिए बल ही औषधि है। पापियों से पददलित अन्य पापियों के लिए यही अनिवार्य औषधि है। और, अद्वैत की तरह बलदायी तथा शक्ति स्पंदी और कुछ-भी नहीं है।" (खं० २, पृ० २०१)।

इस तरह स्वामी जी की ग्रन्थावली से अनेकानेक पृष्ठों में प्रोत्साहन प्रदान करनेवाले उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

अद्वैतवादियों के समाज में एक प्रचलित सूक्ति है: 'द्वैताद्वै भयंभवति, अद्वैतमेव अभयम्, अर्थात् द्वैत या परिच्छिन्नता से भय उत्पन्न होता है; अद्वैत ही, वस्तुतः, अभय है।

अन्ततः निष्कर्ष रूप में हम ज्ञान साधना के स्वरूप और उसके प्रमुख लक्षणों का निरूपण करते हैं। ज्ञान योग के साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर को अत्यधिक महत्व न देने का अभ्यास अर्जित करे। न तो उसे शरीर की भौतिक आवश्यकताओं पर बहुत ध्यान देना चाहिए। और साथ ही, सर्वथा अहंकृतिरहित होने के लिए उसे शनैः शनैः अहम् भाव की पूर्ण अनुपस्थिति को विकसित करना चाहिए। सतत् अभ्यास के बल से उसे अपनी आध्यात्मिक आत्मसत्ता की अनुभूति में उपनीत होना चाहिए, आत्मस्वरूप से अभिन्न हो जाना चाहिए, जिससे वह शरीर के अन्तर्जात, अधोगामी आवेगों से ऊपर उठकर उदासीन या असंग रह सके। मंडूकोपनिषद की घोषणा है: "ऊर्ध्व और अधः को अपने में अंतर्गुप्त रखनेवाली आत्मसत्ता की अनुभूति से जीव की हृदय ग्रंथियाँ छिन्न हो जाती हैं, उसके संदेह निवृत्त हो जाते हैं, और उसके समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।" (म० उ० २; २.९) अद्वैत वेदान्त का एक अन्य ग्रंथ 'दृग दृश्य विवेक,' जो किंचित अज्ञात है, इन विचारों को मुखर शब्दों में प्रस्तुत करता है: "देहासक्ति के विदा होते ही, परमात्म सत्य के अपरोक्ष होते ही, मन किसी वस्तु की ओर पयों न निर्देशित हो, अनुभूति समाधि की होती है।" (श्लो० ३०) 'विवेक चूड़ामणि' में जीवन मुक्त के लक्षणों तथा उनके 'अनंत गुणरूप फलों' का चित्रण तेजोद्दीप्त शब्दावली में प्रस्तुत हुआ है। (श्लो० ४२५-४४१) इन श्लोकों में आत्मोपलब्ध ज्ञानियों के स्वभाव की दिव्य झाँकियाँ मिलती हैं, जिन्होंने जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। यहाँ हमें जीवन मुक्त महापुरुष द्वारा बहिर्जगत पर हुए प्रभावांकन का महिमामय चित्र मिलता है। वस्तुतः, इन श्लोकों में हम जीवन्मुक्त योगी का अन्तिम, निर्णायक चित्र ही पाते हैं।

ज्ञानयोग के प्रतिफलन के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने इस तरह कहा है: "इसी जीवन में जीवनमुक्त होना ज्ञानयोगी का परम लक्ष्य है। जीवनमुक्त वह है जो अनासक्त जीता है, जल में रहनेवाले कमलपत्र की तरह, कभी नहीं भींगता है। वही पुरुषोत्तम है, सभी जीवों में शीर्षस्थ है, क्योंकि उसने सर्वश्रेष्ठ परमात्मा से अपनी अभिन्नता का अनुभव किया है और ब्रह्माद्वैत में प्रतिष्ठित है। उसने यह अनुभव करके जाना है कि वह ईश्वर के साथ तदात्म एवं अभिन्न है।" (ग्र०, खं० ३, पृ० १०-११)।

'ज्ञान योग का प्रतिफलन' एक शब्द में सूत्रबद्ध हो सकता है, जो जीवन-मुक्ति है। जैसा पहले ही संकेत किया गया, इस पथ पर बढ़ने के लिए तत्परता, ईमानदारी, तथा उत्साहपूर्ण अध्यवसाय की आवश्यकता है। साधक को अपने चुने हुए साधन-पथ की अमोघ क्षमता में अडिग श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे निस्संदेह भाव से गुरुप्रदत्त साधन-निर्देशों का अनुसरण करना चाहिए। बाधाओं तथा विसंगतियों के बावजूद धैर्य, लगन एवं अध्यवसायपूर्वक साधननिष्ठ बने रहने से, उसका मन परिशोधित और पवित्र होता है, उसके नैतिक तन्तु सुदृढ़ एवं समर्थ हो जाते हैं, जिससे वह प्रसन्नता एवं साहसपूर्वक आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का संपादन करने में समर्थ होता है। सतत् अभ्यास से पूर्णता निष्पन्न होती है। संशय-संदेह और कुतर्क-चेष्टा की कोई आवश्यकता नहीं है; साधन-पथ पर आगे बढ़ने में इनकी कोई उपयोगिता नहीं

है। इनसे तो हम विनष्ट होकर आत्महनन के गहरे पाताल में अधः पतित होते हैं। हमें भवसागर के पार होना है; तो संसार-सागर के आर-पार तैर जाना होगा। हमें साहस और वीरता से ब्रह्म के महासागर में छलांग लगानी होगी—शरीर, मन एवं आत्मा के स्तर पर मुक्त एवं स्वाधीन होना होगा।

ज्ञान-सागर के पुलिन पर संस्थित है, ब्रह्मरूप महा-प्रकाश स्तम्भ, महिमा एवं ऐश्वर्य से दीप्त होकर! वह उन सभी प्रकार के स्नेह-स्पंदित प्रोत्साहन एवं पथ-निर्देशन प्रदान करता है, जिन्हें मानव-समाज ने कभी जाना या अनुभव किया है। अतः हम इस परम लक्ष्य तक पहुँचने के पहले नहीं रुकें। ईश्वर हमारे महत् प्रयास में उत्साह-संबल प्रदान करें!

अनुवादक :

शितिकंठ बोधिसत्त्व

(लेखक एवं प्रकाशक की अनुमति से—'द वेदान्त केसरी,' श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास के 'नवम्बर दिसम्बर' ८१ विशेषांक से साभार)

—o—

अपना अपनापन अपनत्व

—स्वामी शक्ति बालक

जो अपना है उससे अपनापन हो ही जायगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जिससे अपनापन है, उससे अपनत्व हो ही जायगा—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

अपना शरीर-स्तर की, अपनापन विचार-स्तर की और अपनत्व भाव-स्तर की घटना है। वंश-परम्परा के आधार पर अक्सर एक दूसरे को अपना माना जाता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति में वंशगत रूप-आकार-गुण-दोषादि का साम्य रहता ही है, भले ही वह न्यूनाधिक ही क्यों न हो! परिवार के सदस्य नवजात शिशु को शारीरिक अधिकार के तौर पर अपना मानते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका शिशुपन बीतता है और सज्ञानता आती है, त्यों-त्यों देखा जाता है कि कुछ बच्चे ऐसे भी निकलते हैं जिनका परिवार के कुछ ही लोगों से अपनापन होता है और कुछ लोगों से नहीं भी होता। जिन लोगों से अपना-पन होता है उन लोगों से वे बच्चे बिना हिचकिचाहट के अपनी बातें कह लेते हैं; कुछ पूछ भी लेते हैं तथा निर्भीकता पूर्वक अपनी रुचि की चीजें माँग भी लेते हैं। परन्तु, जिनसे अपनापन नहीं हो पाता, उनके साथ ठीक इसके विपरीत आचरण होता है। अपनापन के न हो पाने के कारण ही बच्चे अपने अभिभावकों से झूठ भी बोल लेते हैं एवं बिना पूछे उनकी चीजें भी इधर-उधर करने लगते हैं। कभी-कभी वे उनसे झगड़ भी जाते हैं या उनमें सैद्धांतिक मतभेद बना रहता है। दूसरे शब्दों में अपनापन का अभाव ही अविश्वास है।

आखिर अविश्वास उत्पन्न होने का कारण क्या है? मुख्यतः इसके दो कारण हैं। प्रथम वैचारिक सामंजस्य का न होना और द्वितीय—सूक्ष्म शरीर की तरंगों में असमानता।

वैचारिक असामंजस्य तो सबकी समझ में आ जाता है परन्तु सूक्ष्म शरीर की तरंगों की असमानता क्या है

और यह असमानता क्यों होती है, यही विचारणीय विषय है।

सबसे पहले वैचारिक असामंजस्य को ही लें। वैचारिक असामंजस्य के तीन कारण हैं—

१. जानकारी का न होना।

२. जानकारी के न्यूनाधिक्य का होना।

३. विपरीत जानकारी का होना।

जानकारी का अभाव हो तो उसकी जानकारी (सज्ञानता) बढ़ाकर उसके साथ सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

न्यून जानकारी की भी पूर्ति करके सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

परन्तु विपरीत जानकारी वाले के साथ सामंजस्य स्थापित करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि जब तक विपरीत जानकारी को छोड़ने की उसकी तैयारी नहीं होगी तब तक अनुकूल जानकारी ग्रहण करते की उसकी पात्रता नहीं होगी।

अब सूक्ष्म शरीर की तरंगों की असमानता पर एक दृष्टि।

तरंगों की असमानता भिन्न-भिन्न पितृ-परम्परा से आनेवाले सूक्ष्म शरीरों के कारण होती है। वंश परम्परा की भाँति पितृ परम्परा के भी गुण-दोष सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहते हैं। "बहुत से साधकों की अनुभूतियों से यह पता चलता है कि एक प्रकृति के पितरों का दर्शन एक धरातल पर एवं दूसरी प्रकृति (विचार) वाले पितरों का दूसरे धरातल पर दर्शन होता है।"

संभवतः यह सूक्ष्म शरीर के गर्भ में प्रवेश के समय माँ के सूक्ष्म शरीर की जो तरंग है वह उसकी स्वाभाविक तरंग है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भी भाव की अधिकता में सूक्ष्म शरीर की तरंगों में भी असमानता आ जाती है। यह असमानता क्षणिक है। इससे मौलिक तरंगों की समानता बनी रहती है।

अपनापन मौलिक तरंगों की समानता पर ही स्थायी होता है। अपनापन की अवस्था में व्यक्ति एक दूसरे के प्रति संयोग की भावना से प्रेरित होता है। अपनापन को बनाये रखने के एक लिए दूसरे के प्रति विचार एवं व्यवहार का आदान-प्रदान करता रहता है। जिससे अपनापन हो जाता है, व्यक्ति उसके विचारों को ग्रहण करता है एवं अपने विचारों को उसके ग्रहण करने योग्य अवस्था में लाकर व्यक्त करने का प्रयास करता है।

'अपनापन' की सीमा 'अपना से अधिक व्यापक है, 'अपना' की सीमा परिवार एवं जाति तक ही सीमित है, परन्तु 'अपनापन' की सीमा उस समाज तक व्यापक है जहाँतक अपने विचार एवं व्यवहार की समानता संभव है।

परन्तु 'अपनत्व' इन दोनों से विलक्षण है। यह असीम है, फिर भी इसकी असीमता काल परिच्छिन्न है। जिसके प्रति अपनत्व होता है, व्यक्ति स्वयं को उसमें विलीन कर देता है। अपनत्व एकतरफा (एकांगी) भी होता है। अपनत्व दो तरफा भी होता है। एक तरफा अपनत्व के लिए कोई भी एक विशिष्ट गुण काफी है। एक समुद्री जहाज में बहुत से व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। वे विभिन्न देश, विभिन्न प्रान्तों के थे इसलिए भाषा, विचार और व्यवहार में असमानता स्वाभाविक थी। कुछ समय में जहाँ तक सम्भव था निकटस्थ लोगों में समानता के आधार पर अपनापन भी हुआ। अचानक जहाज डूबने लगा। जिसका जिससे अपनापन हो चुका था वह उसे अधिक सुविधा देने लगा, परन्तु स्वयं को बचाकर। यात्रियों में एक महिला ऐसी भी थी जो अकेली यात्रा कर रही थी। उसके निकट का व्यक्ति अपरिचित था। परन्तु उसके साथ एक नन्हा-सा बच्चा था और बहुत सारे सामान थे। कभी वह बच्चे को सँभालता और कभी समान को, क्योंकि मोह तो दोनों से था। जहाज डूब रहा है।

व्यक्ति चूँकि अपरिचित था इसलिए महिला न तो उसे किसी प्रकार सुविधा देने के पक्ष में थी और न उससे किसी प्रकार की सुविधा की अपेक्षा ही कर सकती थी। परन्तु ज्यों ही उसकी दृष्टि उस नन्हें बच्चे से मिली, वह खिंच गयी। उसकी आँखों में आँसू आ गये, उसका हृदय

करुण से भर आया। उसने बिना पूछे उस बच्चे को गोद में उठा लिया। उसने चिपका लिया बच्चे को सीने से। वह खो गयी बच्चे में। जिसने स्वयं को ही खो दिया उसमें मरने का भय रहा कहाँ? उसकी बस अब एक ही चिंता थी—बच्चे को बचाने की।

जहाज डूबता जा रहा है। वह बच्चे को और अधिक चिपकाती जा रही है। उसे क्या पता कि वह स्वयं भी डूबने वाली है। परन्तु, उसकी अब एक ही तमन्ना शेष है—मैं पहले डूबूँ, बच्चा बाद में। पहले मैं मरूँ, बच्चा बाद में, ताकि अपनत्व कलंकित न हो जाय, यह विछोह असह्य न हो जाय। अगर मैं जीवित रही और बच्चा मर गया तो मैं कलंकित हो जाऊँगी। कलंकित जीवन अशोभनीय होता है। अगर मैं जीवित रही और बच्चा भी जीवित रहा तो संभव है कि उस बच्चे को उसके घरवाले ले जायँ। फिर तो विछोह का दुःख होगा। विछोह का दुःख एक घुटन है, स्वयं के प्रति। इसलिए, वह इसके सिवा और कुछ सोच ही नहीं सकती कि मैं पहले मरूँ, बच्चा बाद में मरे या जिये।

अपनत्व में त्याग होता है। कुछ पाने की अपेक्षा नहीं होती।

अपनत्व भाव-स्तर की घटना है। बच्चे के भोलेपन का गुण ही अपनत्व-स्थापन के लिए काफी था। उससे भाषा, विचार और व्यवहार की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी।

भोलापन एक सहजता है। भोलापन एक स्वाभाविकता है।

विचार और व्यवहार तो बनावटी हैं। भोलापन कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। बच्चे का भोलापन स्वाभाविक है। परन्तु, उनका भोलापन सहज है जिन्होंने विचार और व्यवहार की सीमा कर ली है। उनके लिए बचपन का कोई प्रतिबन्ध भी नहीं। जिनका भोलापन सहज है, अपनत्व उनसे भी सम्भव है।

अपनत्व की एक ही माँग (शर्त) है—स्वयं को विलीन कर देना।

जिसमें संशय हो, वह अपनत्व नहीं।

जिससे धोखा होने (पाने) की संभावना हो, वह अपनत्व के काबिल नहीं।

अपनत्व स्वीकारने का अधिकार उसको है, जिसका भोलापन सहज है, स्वाभाविक है। अपनत्व करने का अधिकारी वह है जो स्वयं को विलीन कर सके।

परमात्मा से बढ़कर अपनत्व स्वीकारने का अधिकार अन्य किसी में सम्भव नहीं। शिशु और संत परमात्मा के अधिक निकट हैं।

वे श्रेष्ठ हैं, जिनको परमात्मा से अपनत्व है।
वे भाग्यशाली हैं, जिनको संत से अपनत्व है।
वे शोभनीय (सराहनीय) हैं, जिनकों शिशु से अपनत्व है।

अपनत्व से बढ़कर कोई समर्पण नहीं।
अपनत्व से बढ़कर कोई निष्ठा नहीं।
अपनत्व साहस है, कायरता नहीं।
अपनत्व विनम्रता है, दीनता नहीं।

जैसा कि पहले ही कह चुका हूँ—अपनत्व भाव-स्तर की घटना है। तो फिर इसके घटित होने का कारण क्या है? मुख्य रूप से इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो है—गुण-स्वीकृति। अपनापन और अपनत्व में यहीं अन्तर है। अपनापन के लिए गुण-अवगुण दोनों का मिश्रित या न्यूनाधिक होना आवश्यक है। परन्तु अपनत्व के लिए केवल गुण ही अपेक्षित है।

दूसरा कारण है—कारण शरीर के वेभरेशन (ऊर्जाओं) का मैच करना, समान होना या अनुकूल होना।

ऊर्जाओं की समानता और अनुकूलता में थोड़ा रहस्य है।

समानता—दो कारण शरीरों की ऊर्जाओं में समानता तब होती है जब दोनों कारण शरीर एक ही परम्परा से उत्पन्न हुए होते हैं।

अनुकूलता—जब अपने कारण शरीर की ऊर्जाएँ अपने से श्रेष्ठ कारण शरीर या आत्मशक्ति या परमात्मशक्ति

की ओर खिंची जाने लगें तो उसको ऊर्जाओं की अनुकूलता कहेंगे। यह स्वाभाविक होती है। इसके होने के लिए कोई प्रयास संभव नहीं। प्रयास तो स्वाभाविक होने की परिस्थिति पैदा करने के लिए ही किया जा सकता है। जप-धारणा प्रयास ही तो हैं, ताकि ऊर्जाओं (वेभरेसंज) की अनुकूलता हो जाय जिससे समर्पण, अपनत्व सुगम हो जाय।

पहले ही कह चुका हूँ कि अपनत्व भाव-स्तर की घटना है, अपनापन विचार-स्तर की और अपना क्रिया-स्तर की घटना है। इसलिए अपना का सम्बन्ध इन्द्रियगत क्रियाओं से होता है। अपनापन का सम्बन्ध मस्तिष्क से उठने वाली तरंगों से होता है और अपनत्व का सम्बन्ध हृदय से उठने वाली ऊर्जाओं से होता है। हृदय से उठने वाली ये ऊर्जाएँ शरीर में सिहरन और नेत्रों में अश्रु ला देती हैं। ये ऊर्जाएँ मन के मल को उसी तरह बहाकर ले जाती हैं जिस तरह वेगवती नदी अपने किनारे के कचरे को बहाकर ले जाती है। कचरे से रहित किनारे वाली नदी जिस तरह निर्मल दीखने लगती है उसी तरह निर्मल मन वाला व्यक्ति अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों हृदय की गहराई बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों ऊर्जाओं का संवेग तीव्र होता जाता है त्यों-त्यों हृदय की गहराई बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों हृदय की गहराई बढ़ती है त्यों-त्यों मानसिक तनाव कम होता जाता है।

मानसिक तनाव से रहित हृदय की आत्यन्तिक गहराई ही अखण्ड शान्ति है।

हृदय की आत्यंतिक गहराई परमात्मा के साथ अपनत्व से ही सम्भव है। अन्य सभी अपनत्व आंशिक हैं।

अपनत्व जब तक आंशिक है तभी तक भाव का सम्बन्ध है। अपनत्व अपनी सम्पूर्णता में भावातीत हो जाता है। भावातीत अवस्था में 'स्व' का अभाव हो जाता है और शेष रह जाता है मात्र इष्ट।

---

* लोग तरह तरह के कार्य इसलिए करते हैं कि वे समझते हैं कि ऐसा करना उनका कर्त्तव्य हैं। पर कितने लोग भगवान् को खोजते हैं? काम काज अवश्य करना चाहिए। काम करने से मन ठीक रहता है। पर जप, ध्यान, प्रार्थनादि की भी विशेष आवश्यकता है। कम-से-कम सुबह-शाम तो एक बार बैठना ही चाहिए। वह मानो नाव की पतवार के समान है। शाम को प्रार्थना के लिए बैठने से दिन भर अच्छा-बुरा क्या किया, क्या न किया, यह विचार मन में आता है। फिर पिछले दिन की मन की अवस्था के साथ आज की अवस्था की तुलना करनी चाहिए। फिर जप करते करते इष्टमूर्ति का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय पहले इष्टदेव का मुख दिखायी पड़ता है लेकिन इष्टदेव के चरणों से लेकर शिखा तक पूरे विग्रह पर ध्यान करने का प्रयास करना चाहिए। काम-काज के साथ यदि जप-ध्यान न करोगे, तो यह कैसे समझोगे कि उचित दिशा में जा रहे हो या अनुचित?

—श्री सारदा देवी

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव एवं मधुर भाव

—उमेशचन्द्र

आध्यात्मिक जगत में मधुर भाव का विकास एवं प्रसारण श्री चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य वैष्णवाचार्यों ने किया। यह उन्हीं आचार्यों की महती कृपा थी कि ईश्वर प्राप्ति के लिए मधुर भाव का अवलम्बन कर साधकों ने अपने प्रेमास्पद की प्रिय अनुभूति की। भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला का ऐतिहासिक प्रमाण भले ही उपलब्ध न हो किन्तु "भाव राज्य की वह रहस्यलीला सदा समान रूप से साथ बनी रहेगी। चिन्मय धाम में चिन्मय राधा श्याम की उस अपूर्व प्रेम लीला को यदि देखने की अभिलाषा हो तो सर्वप्रथम सम्पूर्णतया कामान्ध रहित बनो तथा श्री राधा रानी की सखियों में से किसी के पादपद्मों के अनुगत होकर निःस्वार्थ रूप से सेवा करना सीखो। उसी समय तुम्हें स्पष्ट दिखाई देगा कि तुम्हारे हृदय में श्री हरि की लीला भूमि श्री वृन्दावन चिर प्रतिष्ठित है तथा तुम्हारे साथ उस प्रकार की लीलाओं का नित्य अभिनय हो रहा है।"[1]

मधुर भाव की साधना पंच भावों की साधना में नितान्त दुरूह समझी गयी है। मातृभाव, वात्सल्यभाव, दास्य भाव एवं सेवकभाव की साधना भी ईश्वर तत्व तक पहुँचने के लिए महापुरुषों द्वारा बतलायी गयी है एवं अनुभूत है क्योंकि "प्रत्येक भाव की साधना की जड़ या नींव प्रेम है और ईश्वर का प्रत्येक साकार रूप उस प्रेम का विषय होता है। अब यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को अद्वैत का अनुभव होने तक ईश्वर के किसी न किसी साकार रूप की ही कल्पना करना संभव होता है।"[2] प्रत्येक भाव की साधना की अंतिम अवस्था में साधक अपने प्रेमास्पद के चिन्तन में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपना अस्तित्व पूर्णतया विस्मृत कर जाता है और परम सत्ता से अपनी अनन्यता की अनुभूति करता है। यही अद्वैत भाव की उपलब्धि है।

आध्यात्मिक इतिहास के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न युग में विभिन्न भाव धाराओं का अवलम्बन कर साधकों ने "ईश्वर तथा उनमें से विरले किसी किसी ने अखंड अद्वय ब्रह्मवस्तु की उपलब्धि की थी।"[3] वैदिक तथा बौद्ध युग में शान्त भाव की प्रधानता थी, उपनिषद् युग में अद्वैत एवं दास्य भाव, रामायण एवं महाभारत काल में शान्त भाव एवं दास्य भाव, तांत्रिक युग में मातृ भाव तथा मधुर भाव और वैष्णव युग में सहज, वात्सल्य एवं मधुर भाव की प्रधानता थी!

महर्षि नारद ने अपने "भक्ति सूत्र" में मधुरा भक्ति की परिभाषा दी है।

"नारदस्तु तदर्पिता अखिलाचारिता तदिस्मरणे परम व्याकुलेतति ॥१॥
अस्त्येवमेवम् ॥२०॥
यथा व्रज गोपिका मात्र ॥२९॥"[4]

"अपने सभी कर्मों को भगवान में अर्पित करना और उनकी विस्मृति से परम व्याकुलता की अनुभूति ही मधुरा भक्ति है। यह भक्ति ऐसी ही है जैसे ब्रज की गोपिकाओं की श्रीकृष्ण के प्रति असीम प्रेमाकुलता।

गोपिकाओं का श्रीकृष्ण-प्रेम परम पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है। अपने प्रियतम को सर्वस्व समझाना, पलभर की विस्मृति भी मृत्यु सदृश प्रतीत होना, श्याम रंग में आत्मविभोर हो जाना यही तो गोपियों का अविरल प्रेम है, जिसे भक्त शिरोमणि सूरदास ने व्रज भाषा के शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है—

1. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग—स्वामी सारदानन्द—प्रथम खंड—पृष्ठ ३३४
2. श्री रामकृष्ण लीलामृत—पंडित द्वारका नाथ तिवारी—पृष्ठ ३६१
3. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग—स्वामी सारदानन्द—पथम खंड—पृष्ठ ३२९
4. प्रेम दर्शन (देवर्षिनारद रचित भक्तिसूत्र)—गीता प्रेस, गोरखपुर पृष्ठ ४१-४५।

"स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठो जाम ऊधों हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं लिये,
आँधे की सी लाकरी आधार स्याम नाम है ॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्राणपति,
स्याम सुखदाईसों भलाई सोभा धाम है।
ऊधो तुम भये बौरे पाती लै के आये दौरे
जोग कहाँ राखें यहाँ रोम रोम स्याम है।"

श्री रामकृष्ण देव ने मधुर भाव की साधना की थी। साधनोपरान्त ही उन्होंने पाया कि भाव राज्य की सत्यता की पूर्ण उपलब्धि की जा सकती है। अपने समीप आये शिक्षित युवा वर्ग से वे कहा करते थे—

"वृन्दावन लीला में श्री कृष्ण के प्रति श्री राधारानी के हृदय का जो आकर्षण था, उसे क्यों नहीं देखते, उसको देखो तथा यह अनुभव करो कि ईश्वर के प्रति उस प्रकार का आकर्षण होने पर, तब कहीं उनकी प्राप्ति होती है। यह देखो की गोपियाँ पति-पुत्र, कुल- शील, मान-अपमान, घृणा-लज्जा, लोकभय, समाजमय आदि सब कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण के निमित्त किस प्रकार उन्मत्त हो उठी थीं! उस प्रकार के आचरण का जब सामर्थ्य होता है, तभी भगवान की प्राप्ति होती है।

कामगन्ध से मुक्त हुए बिना महाभावमयी श्रीराधारानी के भाव को समझना संभव नहीं है। सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण के दर्शन मात्र से ही गोपियों के हृदय में कोटिशः रमण-सुख से भी अधिक आनन्द उपस्थित हो उनकी देह बुद्धि विलुप्त हो जाती थी। तुच्छ देह के रमण की बात क्या उस समय उनके मन में कभी उदित हो सकती है? श्रीकृष्ण के अंग की दिव्य ज्योति, उनके शरीर को स्पर्शकर रोम-रोम में रमणसुख से कहीं अधिक आनन्द का उन्हें अनुभव कराती थी।"[5]

मधुरभाव की आधारशिला श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं अन्य वैष्णव भक्तों ने रखी। श्रीभगवान् के प्रति पतिभाव स्थापित कर साधन पथ की ओर अग्रसर होना ही मधुर भाव है। "सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं एवं जगत के स्थूल सूक्ष्म सभी पदार्थ तथा प्रत्येक जीव उनकी महाभावमयी प्रकृति का अंशसम्भूत होने के कारण उनकी पत्नी स्वरूप हैं। इसलिए यदि जीव शुद्ध एवं पवित्र बनकर पतिभाव से भली भाँति उनकी उपासना में प्रवृत हो तो उनकी कृपा से उसके लिए सद्गति, मुक्ति तथा निर्विच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होती है—यही श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित मधुर भाव का तात्पर्य है।"[6] महाभाव के अन्दर समस्त भाव समाविष्ट हैं। "दैवी प्रेम के इस मधुर भाव में भगवान् का चिन्तन पतिरूप में किया जाता है—ऐसा विचार कि हम सभी स्त्रियाँ हैं, इस संसार में कोई पुरुष नहीं, एक ही पुरुष है, वह है हमारा प्रेमास्पद भगवान। जो प्रेम पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है, वही प्रेम भगवान को देना होगा।"[7] मधुर भाव की प्रेम-विह्वलता अलौकिक है। भौतिक प्रेम में आदान-प्रदान की उत्कंठा रहती है, किन्तु आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता में आत्म उत्सर्ग ही एकमात्र आकांक्षा रहती है। आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता कितनी प्रगाढ़ होती है, उसका परिचय श्रीमद्भागवत में मिलता हैं।

"सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुता सुष्ठु चिञ्चतम्।
इतरारागविस्मारणां नृणां वितर नीर नस्तेऽधरामृतम्।"
श्रीमद्भागवत ॥१०।३१॥

"हे प्रियतम, तुम्हारे अधरों के केवल एक चुम्बन के लिए! जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। उसके समस्त दुःख चले जाते हैं। वह तुम्हें छोड़ और सब कुछ भूल जाता है।"[8] प्रियतम का एक चुम्बन प्रेमास्पद के लिए कितना आह्लादपूर्ण है! प्रियतम के अधरों का एक स्पर्श कितना उन्मादयुक्त है कि प्रेमी अपना सर्वस्व विस्मृत कर प्रेमानन्द में डूब जाता है। "श्रीकृष्ण वृन्दावन के कुंजो में किस प्रकार लीला करते थे, किस

5. श्रीरामकृष्ण लीला : प्रसंग : स्वामी सारदानन्द : पृ० ३३५
6. तथैव ३३८
7. विवेकानन्द साहित्य : चतुर्थ खण्ड पृ० ७१
8. तथैव पृ० ७३

प्रकार सब लोग उन्मुक्त होकर उनसे प्रेम करते थे, किस प्रकार उनकी बंसी की मधुर तान सुनते ही चिरधन्य गोपियाँ सब कुछ भूलकर, इस संसार और इसके समस्त बन्धनों को भूलकर, यहाँ के सारे कर्त्तव्य तथा सुख-दुःख को बिसारकर, उन्मत्त-सी उनसे मिलने के लिए छूट पड़ती थीं—यह सब मानवी भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।"[9] यह अलौकिक प्रेम की छवि आनन्ददायी और उन्मुक्तता से युक्त है, जिसके कारण प्रेमोन्माद की चरम अवस्था बतलायी गयी। परमहंस रामकृष्ण ने मधुर भाव की साधना की। साधनकाल में उन्होंने स्त्रियोचित परिधान ही नहीं पहने, वरन उनके हावभाव देखने से यह प्रतीति होती थी कि वे पुरुष नहीं। माथुर बाबू ने साधना की इस वेला में स्त्रियोचित वस्त्र, गहने एवं शृंगार की सामग्रियाँ भी उपलब्ध करा दी थीं। कभी-कभी तो उन वस्त्रों में महिलाएँ भी श्रीराम कृष्ण को पुरुष समझने में अपने को असमर्थ पाती थीं। "श्रीरामकृष्ण देव उन वेश-भूषाओं को धारण कर श्रीहरि की प्रेमलोलुपा ब्रजरमणियों के भाव में क्रमशः इस प्रकार निमग्न हुये थे कि उनका पुरुषत्वबोध भी समूलनष्ट होकर उनकी बोलचाल, उनको कार्यकलाप इतना ही नहीं, उनके विचार भी स्त्रियों के समान हो गये थे।"[10]

रमणी की वेशभूषा में श्रीरामकृष्ण देव को उनके चिर परिचित यहाँ तक कि उनके माँजे हृदय भी नहीं पहचान पाते थे।

श्रीरामकृष्ण देव के अपने प्रियतम गोपीबल्लभ के विरह में मानसिक एवं शारीरिक यातनाओं की भी अनुभूति की। गोपीवल्लभ के विरह की अग्नि से उनका शरीर झुलस जाया करता था एवं मधुर भाव की साधना के समय उनके शरीर के रोमकूपों से रक्त की बूँदे भी टपका करती थीं।

भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमिका राधारानी की कृपा के बिना राधावल्लभ का दर्शन सम्भव नहीं। परमहंस श्री रामकृष्ण ने राधारानी का दर्शन किया। वे कहते थे "श्रीकृष्ण-प्रेम में सर्वस्व विसर्जित करनेवाली निष्काम पवित्रोज्वल मूर्ति की महिमा तथा मधुरिमा का वर्णन करना असम्भव है। श्रीराधारानी की अंगकान्ति को मैंने 'नागकेसर' पुष्प के केसरों की भाँति गौर वर्ण देखा था।"[11] उन्होंने राधारानी के रूप में स्वयं को अनुभव किया। श्रीमती राधारानी की परमकृपा से ही श्रीकृष्ण का दर्शन उन्हें हुआ।

मधुर भाव की साधना में परमहंस श्रीरामकृष्ण ६ माह रहे। उन्हें उस काल में सारा जीवन कृष्णमय प्रतीत होता था। एक दिन वे विष्णु मन्दिर में श्रीमद्-भागवत की कथा श्रवण कर रहे थे। कथा के ही क्रम में उन्हें श्रीकृष्ण की ज्योतिर्मयी मूर्ति के दर्शन हुये। उस मूर्ति के चरण कमलों से धागे के सदृश दो ज्योतियाँ निकलीं। उनमें से एक ज्योति ने श्रीमद्भागवत का स्पर्श किया और दूसरी उनके हृदय में समाविष्ट हो गयी। वे दोनों ज्योतियाँ कुछ समय तक उसी स्थिति में रहीं। "तभी से उनके हृदय में यह धारणा हो गयी कि शास्त्र, भक्त और भगवान ये तीनों एक ही हैं—एक ही के तीन रूप हैं।"[12]

"धन्येयं धरणी ततोऽपि मथुरा तत्रापि वृन्दावनं
तत्रापि ब्रजवासिनो युवतयस्तत्रापि गोपाङ्गना।
तत्राचिन्त्यगुणैक धामपरमानन्दात्मिका राधिका
लावण्याम्बुनिधिस्त्रिलोकरमणी चूड़ामणि काचन ॥"[13]

"यह पृथ्वी धन्य है! उस पर भी मथुरा, वहाँ भी वृन्दावन, उसमें भी ब्रजवासी, उनमें भी युवती गोपियाँ और उनमें भी अचिन्त्य गुणों की खान परमानन्दमय सौन्दर्य की निधि एवं तीन लोकों की स्त्रियों में शिरोमणि कोई राधा नाम की गोपी ही धन्य है।"

---

9. " " पृ० ७३
10. श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग : स्वामी सारदानन्द पृ० ३४३
11. वही पृ० ३५१ 12. श्रीरामकृष्ण लीलामृत पंडित द्वारकानाथ तिवारी पृ० ३९३
13. सूक्ति सुधाकर—गीताप्रेस, गोरखपुर

आत्म ज्ञान

—डा० रामाशीष प्रसाद

दीपक जलता है निर्विकार रहता अलिप्त देकर प्रकाश
जिसमें होता शुभ अशुभ कर्म, काँटों में पाटल का विकास।
हो स्वस्थ गगनवत निज स्वरूप निस्पृह व्यापी तृष्णा विहीन
इन्द्रिय संचालक होकर भी रहता तटस्थ आत्मा प्रवीण।

गुण के बादल घिर-घिर आते, आत्मा अम्बर आवृत लगता;
पर प्रकृति न ढँक सकती उसको, उसमें अनन्त भूमा जगता।

वह अग्नि ताप पाकर लोहा ज्यों अग्नि-भाव को पाता है,
संस्पर्श आत्मा का पाकर सब कुछ आत्मा हो जाता है।
आनन्द-लाभ ही आत्मा का, जीवन में मुक्ति दिलता है।
प्रारब्ध भोग या पाप-पुण्य का लेप नहीं चढ़ पाता।

आत्मा असंग साक्षी अनन्त, प्रतिबिम्ब जीव चेतन होते;
होता प्रकाश उसका स्वरूप, गुण दोष न उसको छू सकते।

जब देह-वासना जगी रहे, होता वह परमानन्द नहीं;
आवरणों की निवृत्ति बिना मिलता विमुक्ति आनन्द नहीं।

वासना जीव का बन्धन है, आशा अप्सरी फँसाती है;
जब तृष्णा का परित्याग हुआ, आत्मा खुद ही जग जाती है।

नाविक ऐसी नौका देता जिससे सागर को पार करें;
गुरु ऐसा मंत्र सिखा देता कि द्वन्द्व सिन्धु मंझधार तरें।

गुरु और शास्त्र के द्वारा ही आत्मा न कभी लक्षित होता;
सद् बुद्धि हृदय के दर्पण में वह आत्म देव बिम्बित होता।

अन्तर्मुख होती दृष्टि जहाँ आत्मा-गुरु का उद्भव होता;
ईश्वर तो अन्तरात्मा है, तत्त्वमसि का अनुभव होता।

जब देह नष्ट हो जाती है, सीमा मिटती आत्मा न कभी;
वह घड़ा नष्ट हो जाता है, मिटता उसका आकाश कभी?

घनघोर घटा मिट जाती है, आकाश अखण्डित ही रहता;
यह देह नष्ट हो जाती है, आत्मा निर्लिप्त अमर रहता।

कोई उत्पन्न नहीं होता, कोई न मृत्यु को पाता है;
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', यह आत्म ज्ञान बतलाता है।

अज्ञता दुःख का कारण है, अन्तर्मुखता दुःख नाशक है ;
द्रष्टा आत्मा का परम सुखी, आत्मा अम्बर से व्यापक है।

मनका नियमन हो जाने पर भ्रम का संसार नहीं रहता ;
जब चन्द्रकला घटने लगती तब सागर ज्वार रहित बहता।

जब पूर्व कर्म औ' चिन्ता से वासना कभी जग जाती है ;
प्राणों को निश्चल करने से सत्यताबुद्धि आ पाती है।

आत्मा केवल साक्षी होता, वह भावाभव प्रकाशक है ;
ज्यों दर्पण प्रतिबिम्बित करता, उसका स्वभाव दिग्दर्शक है।

यह जगत अज्ञ का चरम सत्य, शास्त्रज्ञ अकथ्य इसे कहता ;
आत्मज्ञ परम आत्मा लखता, माया का नाम नहीं रहता।

———

जीवन कथा

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

अष्टम अध्याय

(जयरामबाटी और कामारपुकुर में गमनागमन)

श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में सारदादेवी कुल तेरह वर्ष दक्षिणेश्वर में रहीं। किन्तु, लगातार नहीं रह पायीं। अनेक कारणों से उन्हें बीच-बीच में जयरामबाटी और कामारपुकुर आना-जाना पड़ता था। इस आवागमन के समय रास्ते में जो सारी घटनाएँ घटी थीं उनमें कुछेक घटनाओं का यहाँ कथन कर रहा हूँ। प्रसंगवश दक्षिणेश्वर की दो-एक बातें भी कहूँगा।

पहली बार दक्षिणेश्वर में आकर श्री सारदादेवी डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक दिनों तक ठहरी थीं। १२८० साल (१८७३ ई०) के आश्विन या कार्त्तिक महीने में कामारपुकुर होकर वे जयरामबाटी लौटीं। इसी वर्ष के चैत महीने की रामनवमी को उनके पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु के कुछ महीनों बाद १२८१ साल (सन् १८७४ ई०) के बैशाख महीने में वे फिर दक्षिणेश्वर लौट आयीं एवम् अपनी सास चन्द्रमणि देवी के साथ नहबत घर में वास करने लगीं।

जो दक्षिणेश्वर गये हैं वेसब जानते हैं कि वहाँ का नहबत घर कितना छोटा है। उसके नीचे के घर में एक आदमी का निवास करना भी कष्टकर नहीं है क्या ? और केवल रहना-ही तो नहीं, रसोई-पानी की सारी वस्तुएँ उसी घर में रखनी होंगी। किसी भक्त स्त्री के आने पर उसके सोने के लिए भी थोड़ी जगह देनी होगी। घर में सीढ़ी के नीचे उन्हें रसोई पकानी होती थी। आबरू की रक्षा के लिए उसी छोटे घर से और भी छोटे बरामदे को बाँस की चँचड़ी से घेर देना पड़ा था। इसके फलस्वरूप घर में जैसे प्रकाश और हवा को प्रवेश करने से रोक दिया गया था।

उस घर का वर्णन सारदादेवी के अपने मुख से ही सुना जाय—"इस घर में ही सारा संसार था,—यहाँ तक कि ठाकुर के लिए हाँड़ी में मछली बचाकर रखना तक

उसी घर में होता था। शुरू-शुरू में घर में प्रवेश करने पर माथे में ठोकर लग जाती थी। एक दिन माथा कट ही गया। बाद में आदत हो गयी थी। दरबाजे के सामने जाते ही माथा झुक जाता था। कलकत्ते से मोटी-मोटी स्त्रियाँ देखने आती थीं। और दरबाजे के दोनों ओर हाथ देकर बोलती थीं—आह, कैसे घर में हमलोगों की सती लक्ष्मी रहती हैं, री,—जैसे वनवास हो।"

मन्दिर के समीप उनके रहने के लिए सुविधाजनक और कोई अन्य उपयुक्त घर भी नहीं था। इस प्रकार का कष्ट देखकर, उनके दूसरी बार दक्षिणेश्वर आने पर श्रीरामकृष्ण के दो अनुरागी भक्तों ने मिलकर काली-बाड़ी के बगीचे के बाहर खर का एक बड़ा घर बना दिया था। इस घर में उन्होंने प्रायः एक वर्ष तक निवास किया था। यहीं रसोई पका कर श्रीरामकृष्ण के घर में भोजन देने जाया करती थीं। इसी घर में रहने के समय उन्हें आमाशय का कठिन रोग हुआ एवं जल-वायु का परिवर्तन करने से शीघ्र ही शरीर को स्वास्थ्य-लाभ होगा, यह सोच कर १२८२ साल (सन् १८७५ ई०) के आश्विन महीने में वे जयरामवाटी गयीं।

तीसरी बार वे दक्षिणेश्वर आयीं १२८३ साल (सन् १८७६ ई०) के शीतकाल में। आने पर उसी खर वाले घर में रहने लगीं। किन्तु, अधिक दिनों तक उन्हें उस घर में रहना नहीं पड़ा। श्रीरामकृष्ण के शरीर के रुग्ण हो जाने पर उनकी सेवा के लिए श्रीसारदादेवी को नहबत के घर में चला आना पड़ा। तब से दक्षिणेश्वर में जितने दिनों तक थीं, इसी घर में रहीं। ठीक-ठीक कहना तो मुश्किल है, फिर भी लगता है, इस तीसरी बार ही दक्षिणेश्वर आने के समय रास्ते में इस प्रकार की एक घटना घटी थी, जिससे उनके साहस, प्रत्युत्पन्न बुद्धि एवं अन्य अनेक गुणों का परिचय मिलता हैं।

गाँव की कई वृद्ध महिलाएँ गंगा स्नान के लिए आनेवाली थीं। सारदा देवी ने उनके साथ दक्षिणेश्वर आने का विचार किया। गाँव से यात्रा कर दो कोस रास्ता तय कर कामारपुकुर पहुँचीं। वहाँ से श्रीराम कृष्ण की भतीजी लक्ष्मी और भतीजा शिवराम उनके साथ आयेंगे, यह बात पहले से तय थी। सब मिलकर फिर चार कोस रास्ता तय कर आरामबाग पहुँचे। पहले सब ने तय किया था कि आरामबाग में ही रात बितावेंगे। किन्तु, जब आरामबाग सब कोई पहुँचे तो देखा कि अभी काफी समय बचा है।

केवल बैठकर समय काटने से क्या लाभ? जितना आगे चलकर रहा जाय उतना अच्छा! चलो, तारकेश्वर जाकर रात बितायी जाय। और केवल पाँच कोस तो है!—यही हुआ अधिकांश यात्रियों का विचार। इसीसे, थोड़ा विश्राम कर फिर सब रास्ते पर बढ़ चले। किसी कार्य में दूसरे के लिए असुविधा उत्पन्न करना अथवा किसी के लिए भार-स्वरूप होना सारदा देवी को स्वभाव से सह्य नहीं होता था। इसीसे उन्हें चलने में कष्ट होगा—यह समझ कर भी उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा। किन्तु, उन्हें अधिक दूर तक राह चलने का अभ्यास तो था नहीं। आधी राह तो किसी तरह संगियों के साथ समान गति से चलीं। किन्तु और चल नहीं पायीं। केवल पीछे-पीछे चलती रहीं। साथियों ने दो बार रुक कर उनकी प्रतीक्षा की और उन्हें जल्दी-जल्दी चलने की ताकीद की। समय समाप्त हो गया है, सब भयभीत हैं। उन लोगों को तेलोभेलो और कैकाला का बहुत विस्तृत मैदान पार करना होगा। आसपास लोग नहीं, आदमी नहीं, सुनसान मैदान धू-धू कर रहा है। उसके बीच में एक रास्ता भीषण अजगर साँप की भाँति सोया पड़ा है। राह में डकैतों का भयंकर उत्पात। उनके हाथ में पड़ने से सबको अपने जान-माल से हाथ धोना पड़ेगा कि नहीं! उनके (श्रीसारदा देवी के) लिए सभी विपत्ति में पड़ें, यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। संगियों से अतः उन्होंने कहा—'तुम सब आगे बढ़ो, मैं ठीक तुम लोगों के पीछे-पीछे आ रही हूँ।'

देखते-देखते सूर्यदेव अस्त हो गये। दिन के प्रकाश की शेष रेखा भी दिगन्त में मिल गयी। धरती के वक्ष पर प्रगाढ़ अन्धकार उतर आया। दस हाथ दूर की वस्तुएँ भी नहीं दीख पड़ने लगीं। सारदा देवी अपने संगियों को फिर कैसे देख पातीं! उस गहन अन्धकार

में वे अकेली राह पर चलने लगीं।

इसी समय श्रीसारदा देवी अपने सामने अन्धकार से भी अधिक काले एक भयंकर व्यक्ति को सामने आते देखा। उसके माथे पर झबड़ेदार बाल, कन्धे पर एक भीषण मोटी लाठी, हाथ में चाँदी की बाला। वे स्थिर भाव से रुक गयीं और सुनीं कर्कश कण्ठ से उठता हुआ यह प्रश्न—'इस समय वहाँ कौन खड़ी है?' प्रश्न सुन कर क्या वे भय से मूर्च्छित हो गयीं या दौड़ कर भागने की चेष्टा की? भय उन्हें हुआ था, किन्तु उसका चिह्न उनकी बातचीत में झलक नहीं सका। आवश्यकता के अनुरूप उत्तर उनके मुँह में मानो संचित था। उन्होंने कहा—"पिताजी, मेरे संगी-साथी मुझे छोड़ गये हैं; मेरे भी मन में होता है कि मैं राह भूल गयी हूँ। आप मुझे मेरे संगी-साथियों के समीप पहुँचा देने चलिए। आपको दामाद दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि की कालीबाड़ी में हैं। मैं उन्हीं के पास जा रही थी। आप यदि मुझे उनके समीप पहुँचा सकें पिताजी, तो वे आपका खूब सम्मान करेंगे।" यह कहकर उन्होंने जल्दी-जल्दी अपने पाँवों की चाँदी की पायल का जोड़ा खोलकर उस अपरिचित बागदी (डोम की कोटि की एक जाति का आदमी) पुरुष के हाथ में धर दिया। यह प्रसंग समाप्त होते न होते एक स्त्री आकर उनके सामने खड़ी हो गयी। उन्हें उस समय जैसे अत्यधिक आश्वस्ति-बोध हुआ एवं उस स्त्री का हाथ पकड़ कर उन्होंने कहा—"मैं आपकी कन्या सारदा। संगियों के दूर चले जाने के कारण विपत्ति में पड़ गयी थी। भाग्य से पिताजी और आप आ गयीं। नहीं तो मैं क्या करती।"

उनकी मीठी बातें, सरल व्यवहार और छोटे बच्चों की तरह दूसरों पर विश्वास और अपनापन का बोध देखकर उन बागदी पति-पत्नी के प्राण उनके हित के लिए पिघल गये। उन दोनों के मन में ऐसा भाव हुआ जैसे सारदा कितने जन्मों की उनकी अपनी अपनी बेटी हो। बागदी की पत्नी ने अपने स्वामी से कहा, 'मेरी बेटी इतनी रात को और चल नहीं पायेगी, अतएव ठहरने की जगह देखो।' पास के तेलोभेलो गाँव की एक दूकान में ठहरने की व्यवस्था हुई। स्त्री ने अपना आँचल फैलाकर राह में मिली अपनी कन्या को सुला दिया—और पुरुष ने इधर से मूढ़ी लाई खरीदकर उन्हें खाने को दिया। सारदा देवी छोटी बच्ची की तरह सोये-सोये खाने लगीं।

दूसरे दिन सवेरे वे लोग सारदा देवी को अपने साथ तारकेश्वर लेते गये। एक दूकान पर उन्हें बैठाकर पुरुष बाबा तारकेश्वर नाथ की पूजा करने तथा सारदा देवी को अच्छी तरह भोजन कराने के निमित्त बाजार करने गया। इधर उनके संगी-साथी भी उनके लिए बड़ी चिन्ता में पड़े थे तथा चारों ओर उन्हें खोज रहे थे। दूकान में उन्हें पाकर सभी जब खूब आनन्दित हो रहे थे तभी बागदी पुरुष पूजा समाप्त कर प्रसाद और बाजार के समान लेकर लौटा। सारदा देवी ने उनको अपने आश्रयदाताओं का परिचय दिया।

यात्रीदल ने श्री श्री तारक नाथ की पूजा की तथा भोजन और विश्राम कर फिर वैद्यवाटी की ओर प्रस्थान किया। बागदी पति-पत्नी भी कुछ दूर तक रास्ते में उनके साथ आये। किस भाव से उन दोनों ने सारदा देवी से विदा ली, वह बात उनके अपने ही मुँह से सुना जाय। —'एक तो रात। इस बीच हमलोगों ने एक दूसरे को परस्पर इतनी दूर तक अपना बना लिया था कि विदा लेने के समय मैं रोने लगी। बाद में सुविधानुसार दक्षिणेश्वर आकर मुझे देख जाने का बार-बार अनुरोध करने पर मेरे बागदी पिता ने आने की बात स्वीकार की। तब अत्यन्त कष्ट पूर्वक मैं उनलोगों को छोड़ आयी। जाने के समय वे काफी दूर तक आगे आये थे तथा मेरी बागदी माँ ने निकट के खेत से काफी छीमी तोड़ कर मेरे आँचल में बाँध दिया और रोते-रोते कहा था—'माँ सारदा, रात में जब मूढ़ी खाना तब इसको मिलाकर खाना।'

बाद में यह बागदी पुरुष अपनी पत्नी को साथ लेकर कई बार दक्षिणेश्वर गया था, मैदान में पायी हुई अपनी बेटी को देखने। जाने के समय खाने का सामान साथ लेते जाता। श्री रामकृष्ण उन दोनों की खूब खातिर-बात करते थे। सारदा देवी की धारणा थी कि उनका बागदी पिता डाकू था,—एक समय अनेक खून-खराबी उसने की थी।

(शेष पृ० ३२ पर)

स्वामी निरञ्जनानन्द

ब्रह्मचारी वरदा चैतन्य

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

"अरे निरञ्जन, दिन जो बीतते जा रहे हैं रे—तू ईश्वर-लाभ कब करेगा....." ? —ईश्वर के प्रेम में निमग्न एक रसिक पागल की है यह व्याकुल पुकार अपने एकमात्र स्वजन के प्रति। हृदय को निचोड़ कर निकले हुए इस प्रेम के आह्वान की क्या उपेक्षा की जा सकती है ? हृदय के भीतर जैसे कोई विप्लव घटित हो जाय, शिराओं-उपशिराओं में सिहरन हो जाय। बाहर की ओर चञ्चल दृष्टि जैसे एक झटके से भीतर की ओर खुल जाती है। उन्मीलन होता है एक तृतीय नेत्र का, जग जाती है एक प्रज्ञादृष्टि। हृदय-दुन्दुभि से एक नयी ध्वनि उठती है। प्राणों में जगता है एक नूतन सुर—'हरि, दिन जे गेलो, संध्या होलो, पार करो गो आमारे....।' (हे हरि, दिन तो बीत गया, शाम हो आयी, मेरा बेरा पार करो....।)

निरञ्जन। नित्य निरञ्जन घोष। 'अञ्जन हीन,' निष्कलुष, पवित्रता की शुभ्र ज्योति। अठारह वर्ष का तरुण युवक। वृष-स्कंध, उन्नत ललाट, सुदीर्घ देह-यष्टि। आँखों में खोजपूर्ण दिव्य प्रखर ज्योति। तेजोदीप्त सरल मुखमण्डल पर स्वर्गीय पवित्रता की स्पष्ट प्रतिच्छाया। एक नजर में ही सच्चे जौहरी —दक्षिणेश्वर के पागल ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने पहचान लिया। प्रथम दर्शन में ही प्रेम। जो प्रेमी जन होते हैं, वे ही तो अपने प्रेमास्पद को ढूँढ़ लेते हैं। प्रेम का प्रज्ञाचक्षु एक क्षण में ही पहचान लेता है अपने अन्तरंग को। 'जे जार से तार, खूजे-खूजे अवतार।' (जो जिसका है वह उसका है, अवतारी पुरुष ढूँढ़ लेता है।) जैसे कलमी लता के एक दल को खींचने पर दूसरे दल भी खिंच आते हैं, उसी प्रकार अवतार भी अपने लीला सहचरों को एक-एक कर अपने लीलाङ्गन में लाकर उपस्थित कर लेते हैं और अपनी अवतार-लीला की पुष्टि करते हैं। २४ परगना का राजार हाट। विष्णुपुर गाँव का नित्य निरंजन उन्हीं लीला सहचरों में एक व्यक्ति। रामकृष्ण अवतार के एक अन्यतम पार्षद।

चुम्बक जिस प्रकार आकर्षित करता है लोहा को, प्रस्फुटित पद्म की मदिर गंध जिस प्रकार खींच लाती है मुग्ध भ्रमर को, उसी प्रकार एक अनिर्वचनीय दिव्य आकर्षण से निरञ्जन आकर उपस्थित हुए दक्षिणेश्वर के भागवत मन्दिर में, श्रीरामकृष्ण के सामने। प्रथम दर्शन के दिन ही श्रीरामकृष्ण ने इस नवीन युवक को अपने एकान्त स्वजन के रूप में ग्रहण किया। इसी से उनके जीवन के उद्देश्य की बात बता दी, बता दिया वह शाश्वत सत्य—ईश्वर-लाभ ही मानव जीवन का उद्देश्य है, ईश्वर ही वस्तु है और सब अवस्तु। प्रेत तत्वान्वेषी, रहस्य सन्धानी निरञ्जन से कहा—'देखो निरञ्जन, भूत-भूत करने से तू भूत ही हो जायगा और भगवान-भगवान करने से भगवान ही होगा। इसलिए क्या होना अच्छा है ?'' सरल बालक निरञ्जन को सद् वस्तु की पहचान करने में थोड़ी भी भूल नहीं होती थी। अतः उन्होंने कहा—'तब तो भगवान होना ही अच्छा है।'

'यह छोकरा (लड़का) बड़ी सरल प्रकृति का है'—निरञ्जन के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने किसी एक भक्त से कहा—'पूर्व जन्म में काफी तपस्या किये बिना सरलता नहीं होती। कपटता, चाटुकारिता इन सब के रहने से ईश्वर को नहीं पाया जा सकता।'' बात-बात में समय व्यतीत हो जाता है। 'विषय-वासनाओं में आसक्त लोगों के साथ बात करने से मुँह जल जाता है।' 'विषय-वासना की बातें बुरी लगती हैं।' इसी से तो श्रीरामकृष्ण ने

आकुल प्रार्थना की थी—'माँ, शुद्ध भक्तों को ले आओ ताकि उनके साथ बातें कर अपने प्राणों को शीतल कर सकूँ। कितने दिन और कितनी रातें व्याकुल कंठों से उन्होंने आतुर प्रार्थना की थी दक्षिणेश्वर के कुटीर की छत पर से—'अरे भक्तो, तुम लोग कौन हो, कहाँ हो ! आओ।' आज वही परम शुद्ध अपापबिद्ध 'भक्त' उनके निकट आया है, इसी से वे आनन्द से आत्मविभोर हो रहे हैं। कितनी बातों, कितनी कथाओं-वार्ताओं का आदान-प्रदान हुआ। श्रीरामकृष्ण ने कहा—'देखो, यदि तू संसारी प्राणियों के निन्यानवे उपकार करोगे और एक ही अपकार करोगे तब भी लोग तुझे देखना पसन्द नहीं करेंगे, (तुझसे घृणा ही करेंगे)। किन्तु ईश्वर के प्रति यदि तू निन्यानवे अपराध करता है और मात्र एक काम उनकी प्रीति का करता है, तो इतने से ही वे तुम्हारे सारे अपराधों को क्षमा कर देंगे। मनुष्य के प्रति प्रेम और ईश्वर के प्रति प्रेम में यही अन्तर है।" संसार के सच्चे स्वरूप की पहचान अपने प्रिय शिष्य को कराने का प्रयास किया श्रीरामकृष्ण ने। क्रमशः संध्या घनी हो गयी। शुद्ध सरल बालक का पवित्र साहचर्य छोड़ने को मन नहीं चाहता। संसार के वन-अरण्य में, 'काजल की कोठरी में', निष्कलुष बालक को छोड़ देने में हिचक होती थी। बालक से अनुरोध किया—'आज घर मत जाओ। यहीं आज रहो न !' निरञ्जन ने कहा—'घर नहीं लौटने पर मामा चिन्तित होंगे, क्रोध करेंगे।' श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हुए। लड़के में कर्त्तव्य-बोध है। कहा—'फिर आना।'

फिर शुरू हुआ वही संसार की कामना-वासना का उद्दाम ताण्डव, व्यर्थ की बातों का कोलाहल, स्वार्थपूर्ण मिलन का परिवेश। इनसे निरञ्जन हाँफने लगे। मन दौड़कर जाना चाहता है उसी गंगा-तीर पर, स्वर्गीय नन्दन कानन की ओर। उसी अद्भुत देव-मानव का दुर्दमनीय आकर्षण अनुभव होने लगा हृदय और मन के अणु-परमाणु में। दो-तीन दिनों के बाद फिर निरञ्जन आये दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पद तल में। वही अद्भुत प्रेम-पागल आनन्द-उच्छ्वसित हो उठे अपने प्रिय व्यक्ति के आगमन से। परम शान्त एकान्त में बुलाया निरञ्जन को। अन्तरात्मा के प्रबल भाव को दबा कर रख नहीं सके, बोले—'अरे निरञ्जन, दिन तो बीतते जा रहे हैं रे, तू ईश्वर लाभ कब करेगा ? दिन तो बीतते जा रहे हैं, भगवान का दर्शन नहीं करने से सब कुछ तो व्यर्थ ही होगा। बोल, तू कब उनको प्राप्त करेगा, बोल कब उनके पाद-पद्म में तू अपना मन अर्पित करेगा ! मैं तो इसी सोच में व्याकुल हो रहा हूँ।"

निरञ्जन आवाक् हो गये। यह कैसा अहैतुकी प्रेम है ! निःस्वार्थ, निष्काम प्रेम का क्या यही सत्य स्वरूप है ! यह पवित्र प्रेम बन्धन में नहीं डालता बल्कि मुक्त करता है। इस प्रेम में खिन्न कामना का दाहक ईन्धन नहीं; इस स्वर्गीय प्रेम में है सीमा के बाहर असीम में पहुँचने का आह्वान। इस प्रेम के आकर्षण में गृहस्थ हो जाता है गृह त्यागी, संसार उसे प्रतीत होने लगता है एक ज्वलंत विभीषिका। निरञ्जन भूल गये घर, परिवार एवं कभी अपनाये हुए अपने परिजनों को। उन दिव्य पुरुष के सत्संग में चार रातें उन्होंने बिता दीं।

नशा प्रबल हो गया। ईश्वर प्रेम का नशा। निरञ्जन उसी नशे के प्रभाव से जल्दी-जल्दी दक्षिणेश्वर आने लगे। रामकृष्ण के लीलांगन में सम्पूर्ण दिन-रात आध्यात्मिक भावों की प्रबल सरिता बहती थी। भाव-समाधि और हरिनाम-संकीर्तन से मतवाली पंचवटी की स्निग्ध छाया थी। रसिक चूड़ामणि रामकृष्ण को केन्द्र बनाकर भक्तमंडली से प्रेम का फव्वारा छूटता था। इसी सब के बीच उनकी भावधारा के भावी वार्ता वाहकों के जीवन-गठन का कार्य भी चलता था। 'बाउलों के दल आये, नाचे, गाये, आनन्दित हुए, चले गये; और कोई जान भी नहीं पाया।'—इससे क्या हुआ ? दक्षिणेश्वर की पंचवटी से श्रीरामकृष्ण ने साधना की जो होमाग्नि प्रज्वलित की वह क्या निःशेष-निर्वापित हो जायगी ? उस होमशिखा के अग्नि-स्फुलिंग एक दिन सम्पूर्ण विश्व में छिटक कर क्या आध्यात्मिक दावानल का सृजन नहीं करेंगे ? आनेवाले दिनों में कौन करेगा उनके भावों का संवाहन ? भावी युग के उद्देश्य से ही उत्तराधिकार-गठन

का कार्य होता है। निपुण शिल्पी जिस प्रकार अपने समग्र मन के सौन्दर्य को अपनी सृष्टि (स्वकृति) में उड़ेल देता है उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने घिस-माँज कर अपने शिष्यों, भाव-संवाहकों (भावी प्रचारकों) की सृष्टि की। स्वभाव से क्रोधी निरञ्जन को संयम सिखाया। उपदेश दिया—'क्रोध चांडाल है। क्रोध के वशीभूत होना है ? सत् प्रकृति के व्यक्ति का क्रोध पानी पर पड़े दाग की तरह होता है, होता है और तुरत पानी में ही मिलकर समाप्त हो जाता है। हीन बुद्धि वाले लोग कितनी कैसी अन्याय की बातें बोलते हैं, उन्हें लेकर विवाद विसंवाद करने से उन्हीं में जीवन व्यतीत करना होगा। ऐसे स्थानों पर सोचना—लोक पोक हैं (लोग कीड़े-मकोड़ें हैं) और उन लोगों की बातों की उपेक्षा करना।'

क्रमशः निरञ्जन के साथ उत्पन्न होता है प्रेम, विश्वास और श्रद्धा का एक अपार्थिव सम्बन्ध। उपयुक्त शिष्य के प्रति गुरु के लिए कुछ भी अदेय नहीं होता। लाटू महाराज—स्वामी अदभुतानन्द ने, जो स्वयं भी श्रीरामकृष्ण के इसी और ऐसे ही सम्बन्ध के एक अन्य भागीदार थे, कहा है, "निरञ्जन भाई को एक दिन ठाकुर ने भावावेश में छू दिया। इससे तीन-दिन, तीन-रात उसकी आँखों की पलकें नहीं झपकीं, केवल ज्योति देखता रहा और जप करता रहा। उसकी जिह्वा से तीन दिन तक जप छूट नहीं सका। बड़े-बड़े भूत उतारता था न, इसीसे श्रीरामकृष्ण ने मजाक करते हुए कहा था— "इस बार जो-सो भूत नहीं उतरा, एकबारगी ही भगवान भूत ने पकड़ लिया है। तुम्हारी क्या सामर्थ्य कि तुम उसके भीतर से उस भूत को उतार सको।" इस प्रकार धीरे-धीरे गठित हुआ एक सम्पूर्ण मानव-महा मानव। रूप दक्ष शिल्पी श्रीरामकृष्ण ने अपनी साधना से उपलब्ध अगाध ऐश्वर्य द्वारा अपनी सृष्टि (कृति) को विभूषित किया। शिष्य के माध्यम से गुरु ने अपनी अपार ऐश्वर्यिक सम्पदा संक्रमित कर दी। पिता के ऐश्वर्य पर तो पुत्र का ही अधिकार होता है। अपनी साधना से—त्याग-तितिक्षा से—पुत्र अपने पिता की ऐसी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करता है। निरञ्जन ने अपने को निःशेष कर (अहंकार शून्य होकर) समर्पित कर दिया अपने गुरु-इष्ट श्रीरामकृष्ण के पदतल में। शक्तिधर गुरु के कृपास्पर्श से जिस बहु आयास-साध्य आध्यात्मिक अनुभूति को निरञ्जन ने अनायास ही उपलब्ध कर लिया था उसे ही अपनी तपस्या के बल से त्याग और संयम के कठिन अनुशीलन से उन्होंने पुनः स्वायत्त (अपने अधीन) कर लिया।

तत्पश्चात् आया एक दिन विच्छेद का मूहुर्त। जिस आनन्द धन देवमूर्त्ति को केन्द्र बनाकर रसों की हाट बसी थी, उनकी मर्त्य-लीला समाप्तप्राय थी। अवतार के लीला अभिनय का अन्तिम अध्याय उपस्थित था। स्थान—काशी-पुर का उद्यानबाटी। नाट्यलीला के अन्यतम शिष्यों के साथ निरञ्जन भी उपस्थित थे। श्रीरामकृष्ण देव का 'भागवत शरीर' कैंसर के आक्रमण से जर्जर हो गया था। नरेन, राखाल, तारक, निरञ्जन आदि एकान्त प्रिय अंत-रंगगण उनकी यातना के शमन के लिए सेवा सुश्रूषा करते थे। निरञ्जन ने सबकी अपेक्षा अधिक अप्रिय कर्त्तव्य का भार ग्रहण किया। अस्वस्थ श्रीरामकृष्ण के दर्शनाकांक्षी लोगों की भीड़ को संभालने के लिए निरञ्जन बैठे थे दर-वाजे पर हाथ में लाठी लेकर। कर्त्तव्य के अनुरोध से कठोर हुए, दूसरों की अभद्र आलोचना के शिकार हुए, किन्तु गुरु-सेवा में किंचित् कमी नहीं होने दी।

श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के बाद नरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) के नेतृत्व में राखाल, लाट, तारक, निरञ्जन आदि ने आनुष्ठानिक भाव से संन्यास का पवित्र जीवन ग्रहण किया। निरंजन का नाम हुआ स्वामी निरंजनानन्द। श्रीरामकृष्ण के आदर्श जीवन को सम्मुख रखकर 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' इस मूल मंत्र को रूपायित करने के लिए एक संन्यासी संघ का गठन हुआ। श्रीरामकृष्णदेव का अपूर्व त्यागपूत जीवन तथा उनकी साधनालब्ध अभूतपूर्व धर्मसमन्वय की वाणी का विश्व कल्याण के लिए प्रचार करने के उद्देश्य से वाराह नगर मठ में प्रतिष्ठित हुआ रामकृष्ण संघ।

संन्यास-ग्रहण के बाद स्वामी निरञ्जनानन्द तीर्थाटन को निकले। पुरी, वैद्यनाथधाम, काशी, हरिद्वार, प्रयाग होते हुए सुदूर सिंहल (लंका) तक उनकी तीर्थ परिक्रमा

परिव्याप्त हुई थी। इस समय एक मात्र मधुकरीभिक्षाही उनका सम्बल थी। तीर्थ परिक्रमा के साथ-साथ श्रीरामकृष्ण के जीवन और वचनामृत की महिमा का प्रचार भी वे करते चलते थे। इस अपूर्व तेजोदीप्त संन्यासी के सरल प्रेम पूर्ण व्यवहार से मुग्ध होकर धीरे-धीरे अनुरागियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। काम कंचन त्यागी रामकृष्ण के अलौकिक जीवन के महत्व की उपलब्धि उनलोगों ने श्रीरामकृष्ण के योग्य शिष्य के आदर्श जीवन को देखकर की। लंका में स्वामी निरञ्जनानन्द के प्रचार कार्य से प्रसन्न होकर स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र लिखा था—"निरञ्जन इस तरह कार्य करता है कि सुनकर अवाक् हो जाओगे। मैं खबर रखता हूँ।" "निरञ्जन ने लंका आदि स्थानों में अनेक कार्य किये हैं।" निरञ्नानन्द महराज अपने जीवन में अंतिम क्षणों तक यह प्रचार कार्य निष्ठा पूर्वक करते गये। जब जहाँ भ्रमण करते थे, तब अपनी तपस्या और साधन-भजन के साथ-साथ अन्य लोगों को भी आध्यात्मिक जीवन की अनुप्रेरणा देने के लिए सर्वदा सचेष्ट रहते थे। काशी में रहने के समय केदारनाथ, चारु बाबू आदि श्रीरामकृष्ण के अनेक अनुरागी भक्तों के साथ घनिष्ठ साहचर्य से उनलोगों में वैराग्य का उद्दीपन कर दिया था।

स्वामी निरञ्जनानन्द का था कोमल-कठोर एक अपूर्व व्यक्तित्व। उनके दीर्घ, ऋजु शरीर की भाँति उनका आदर्श भी तदनुरुप ही था। सत्य की मर्यादा की रक्षा करने में कभी-कभी उनमें कठोरता झलकने लगती थी किन्तु उनके अन्तःकरण के भीतर सदा करुणा की एक फल्गु धारा बहती रहती थी। कठोरता के बाह्य आवरण के दूर होते ही उनके कोमल मन का स्निग्ध स्पर्श प्राप्त होता था। हाथ में लम्बी लाठी लेकर जब अपने रुग्ण गुरुदेव अथवा अपने प्रिय गुरु भाई स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) के द्वार की रक्षा करते थे तब कर्त्तव्य के कठिन नियम को थोड़ा भी शिथिल नहीं होने देते थे—वहाँ अति परिचितों के साथ भी वही भाव रखते थे; किन्तु जब कोई भक्त चालाकी से उनके दुर्गम पहरे के बावजूद, फाँकी देकर भीतर प्रवेश कर जाता तब बाद में उनलोगों के कौशल और चमत्कारिता का वर्णन सुनकर औरों के साथ निरंजन भी आनन्द का उपभोग करते। श्री श्रीगुरु के प्रति निन्दा करने वालों को चरम दण्ड देने में भी अग्रसर हो जाते थे और फिर श्रीगुरु के लिए लायी हुई मिठाइयों को प्रसन्न मन से खिला देते थे रास्ते के बालकों को—उनमें स्वयं प्रभु का प्रकाश देख कर। आपत्काल में दर्शित उनके कठोर हृदय में थी भक्ति की एक स्निग्ध सुषमा। बिना किसी दुविधा के उन्होंने श्री श्री शारदा देवी को मातृत्व के आसन पर प्रतिष्ठित किया था। उनको (श्री श्रीमाँ को) गुरु पत्नी की मर्यादा मात्र नहीं देते, बल्कि स्वयं जगञ्जननी की साक्षात् प्रतिछवि कहकर श्रद्धा करते एवं भक्तों के बीच अबाध रूप से इसी बात का प्रचार करते। श्रीयुत् गिरीश घोष ने श्री माँ के अवतारत्व के सम्बन्ध में कहा है, 'मैं ही क्या पहले मानता था? निरंजन ने ही मेरी आँखें खोल दीं। "स्वामी विवेकानन्द ने माँ के ऊपर निरंजनानन्द की भक्ति देखकर स्नेह पूर्वक लिखा था—"निरञ्जन लाठीबाजी जरूर करता है किन्तु माँ के प्रति उसमें बड़ी भक्ति है, इससे उसकी लाठी हजम हो जाती है।"

श्रीरामकृष्ण देव का जीवन था कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति का अपूर्व समन्वय। स्वामी निरञ्जनानन्द ने उसी आदर्श जीवन का यथा साध्य अनुसरण किया था। उनके जीवन में भी इसीसे हम चारों योगों का सुदुर्लभ समावेश देखते हैं। स्वामी निरंजनानन्द अपने स्वल्प जीवन में संन्यासी के जीवन का एक अनुकरणीय आदर्श रख गये हैं। १९०४ ई० की ९ मई को अनुमानतः ४० वर्ष की अवस्था में स्वामी निरञ्जनानन्द ने हरिद्वार में अपनी अंतिम साँस लेकर अपने गुरु-ईष्ट भगवान् श्रीरामकृष्ण की शाश्वत चैतन्य धारा में अपने को समाहित कर दिया।

—:०:—

तमेव मार्गम्

शितिकंठ बोधिसत्व

मनुष्य बहिर्जगत् को देखता है : वह द्रष्टा है, जगत् दृश्य है। युग-युग से आती हुई, बनती-टूटती परंपराएँ, लिखित-अलिखित इतिहास तथा सभ्यता एवं संस्कृतियाँ उसके लिए एक सतत् पलायमान, अनादि क्रम की तरह हैं। उसके परिवार-समाज एवं देश-विदेश में अनुक्षण परिवर्त्तित होता हुआ दृश्य है। उसका समस्त परिवेश परिवर्त्तनशील है। हम कह सकते हैं कि, परिवर्त्तन ही उसका परिवेश है। वह अपने शरीर में परिवर्त्तन होता हुआ देखता है। प्राणों में, मन में, बुद्धि में—स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर में विविध परिवर्त्तन, चाहे-अनचाहे, होते ही रहते हैं। इस तरह यह परिवर्त्तन-परिवेश अनिवार्य मानवीय परिस्थिति है।

स्पष्ट है कि उक्त परिवर्त्तन में बाह्य दृश्य की बदलाहट ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन-बुद्धि-प्राणों में होनेवाली सभी वृत्तियों एवं अन्तर्गतियों को लिया जाता है। जगत् की तरह मनुष्य की भी अन्तर एवं बाह्य स्थितियाँ हैं। अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् दोनों ही अनुक्षण परिवर्त्तित होते रहते हैं।

मनुष्य द्रष्टा है—दृश्य का, परिवेश का, जगत् का या अपने स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का। उसे एक अद्भुद् अलौकिकता या दिव्यता का संस्पर्श भी प्राप्त है, जिस शक्ति से वह उक्त परिवर्त्तन-परिवेश का द्रष्टा है। यह एक विलक्षण दृष्टि-शक्ति है, जो प्रवृत्ति-निवृत्ति से बने इन क्षणजीवी दृश्यों या वृत्ति-गतियों को अडोल शांति में प्रतिष्ठित दीपशिखा की तरह अनवच्छिन्न अवलोकन के समर्थ है। क्या यह वही दृष्टि है, जो स्वयं को शरीर मानकर भोक्ताहं भाव से जगतजीवन को भोग्य वस्तु की तरह पाती है? क्या विषयी चित्त-वृत्तियों को परिवेश-परिवर्त्तन के उक्त तथ्य की धारणा होती है?

जगत् के सभी आत्मस्थ महापुरुषों का अनुभव तो यही है कि भोग दृष्टि से ग्रस्त अस्मिता में परिवर्त्तन के उक्त तथ्य की धारणा नहीं होती। अर्थात् यद्यपि ज्ञान तो है परिवर्त्तन का, किंतु इस ज्ञान की प्रतिष्ठा जीवन में नहीं है। सुख-सुविधा की अदम्य रुचि के आवेग में हम बहुधा संयोग में निहित वियोग एवं अनुकूलता में गुप्त प्रतिकूलता के तथ्य को भी अनदेखा कर देते हैं। सुख के लोभी एवं दुख से भयभीत चित्त में होनेवाली राग-द्वेष की अन्तर्गतियों के कारण बुद्धि-दृष्टि आच्छादित हो जाती है। भोग की अदम्य रुचि से समग्रतः आक्रांत चित्त को शरीर तथा संसार भोग्य वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं। इस कारण उनमें होनेवाले विविध परिवर्त्तन नहीं, बल्कि उनकी रमणीयता ही उसे आकर्षित करती है। इस तरह सांसारिक प्रपञ्च में डोलते हुए चित्तवालों की बुद्धि-शक्ति भी भोगाश्रित जीवन के संपोषण में ही लग जाती है। यह अस्थिर बुद्धि है, देह-मन की अनुगामिनी शक्ति बनकर भोगानुष्ठान में ही नियोजित रहती है। यह भोग-दृष्टि का समर्थन करती है, उसकी अधीनता स्वीकार करती है। इस तरह की बुद्धि में परिवर्त्तन का यह ज्ञान टिकता नहीं है। परिवर्त्तन-रूप अनुभव, जो द्वन्द्व-ग्रस्त जीवन की वास्तविकता है, ऐसे व्यक्ति के जीवन में आदृत या प्रतिष्ठित नहीं होता है। अस्थिर बुद्धि में धारणा शक्ति की कमी रहने से तथ्य-ज्ञान भी टिका हुआ नहीं रहता है। स्थिर बुद्धि की शांत, समदृष्टि में परिवर्त्तन के उक्त तथ्य की धारणा स्थायी हो पाती है।

इन्द्रिय-दृष्टि या भोग-दृष्टि पर शासन करने वाली अलौकिक शक्ति, यह बुद्धि-दृष्टि ही है। मानव मात्र में निहित अलौकिक विवेक की ज्योति-शिखा है, यह बुद्धि-दृष्टि, जो अडोल शांति एवं अखंड समता के चिदाकाश में गूढ़ रहकर इन्द्रिय दृष्टि से परिणमत् भोग-रोगादि द्वन्द्वों

के अवलोकन में सक्षम है। बुद्धिजन्य ज्ञान से इन्द्रियजन्य ज्ञान पर विजय प्राप्त होती है। इन्द्रिय-दृष्टि में शरीर तथा संसार भोग रमणीय प्रतीत होते हैं। ये सत्य एवं सुन्दर जान पड़ते हैं। इनपर विश्वास करके मनुष्य विषयों में, काम-कांचन में आसक्त हो जाता है। वह पराधीन होकर अत्यन्त दीन-हीन हो जाता है। किंतु बुद्धिजन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में असुन्दरता, सतत् परिवर्त्तन तथा क्षणभंगुरता आदि दोषों का दर्शन कराता है। इस प्रकार साधक विचारपूर्वक, सुगमता से विषयों का राग से मुक्त होकर, भोग से योग की ओर अग्रसर हो सकता है। बुद्धिजन्य ज्ञान विषय-भोग की वास्तविकता का दर्शन कराता है। शरीर तथा संसार की वास्तविकता का ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान की प्रेरणा से होता है, जिससे शरीर की ममता मिटती है, और विषय भोग से अरुचि हो जाती है।

अनंत पिंड-ब्रह्मांडों से भरे उक्त परिवेश के भीतर अखंड शांति और नित्य चिन्मयता से प्रदान की हुई अपनी बुद्धि-दृष्टि का हम सम्यक् आदर नहीं कर पाते हैं। भोग दृष्टि पर इसका सहज शासन नहीं होने देकर हम अपनी आध्यात्मिक स्वाधीनता का दुरुपयोग करते हैं। क्या मानव मात्र विवेकालोक की अमृतवाहिनी, बुद्धि-दृष्टि की इस ज्योतिशिखा को संप्रतिष्ठित करने में स्वाधीन नहीं है?

मनुष्य इंद्रिय दृष्टि का यह हीन आश्रय भोगते रहने को अभिशप्त नहीं है। इस हीन पराश्रय में भोग-रोग तथा अन्य द्वन्द्वों से विद्ध मरणगामी परिवेश बना हुआ है। किन्तु अपनी चिन्मय विवेक-शिखा के अलौकिक आलोक के श्रद्धाभावित आश्रय से, बुद्धि-दृष्टि या बुद्धि-जन्य ज्ञान के अनुसरण से, इस भोग रोगविद्ध पराश्रय का सहज ही त्याग हो जाता है। विवेकालोक नित्य चिन्मय है, और बुद्धि-दृष्टि उसकी अमृत वाहिनी ज्योतिशिखा है। क्या मानव मात्र इस ज्योति शिखा की संप्रतिष्ठा करने में स्वाधीन नहीं है?

काम-कंचन से गढ़ा हुआ यह समस्त अन्तर्जाल अवलोकित होकर शून्यवत् हो जाता है। ये समस्त अन्तर्द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं, अनंत शक्तिमयी गूढ़ शांति में, जो उक्त चिन्मय विवेक-शिखा के ज्वलंत रहने के लिए अपना ही अंतराकाश है। जीवन में इस अलौकिक विवेक शिखा की संप्रतिष्ठा से, बुद्धि-शक्ति उपयोगी होकर, साधननिष्ठ मनुष्य का निर्माण करती है। साधननिष्ठ मानव शांति-पूर्वक चिन्मय, स्वाधीन एवं अविनाशी जीवन को उपलब्ध हो सकते हैं। ●

(पृ० २६ का शेषांक)

उन दिनों समाज में खाना छुलाने की जिस प्रकार रूढ़िवादी धारणा थी उसके सारदा देवी की बात सोचने पर आजकल के लड़के-लड़कियाँ भी निश्चय ही अवाक् हो जायेंगे। उन दिनों बागदी को छूने पर स्नान कर के शुद्ध होना होता था। किन्तु सारदा देवी बिना संकोच के बागदी स्त्री के आँचल पर सोयीं, उनका छुआ हुआ भोजन ग्रहण किया, और उनके द्वारा खरीद कर दी हुई वस्तुओं को राँध कर खाया। उस समय इस प्रकार हीन जाति के द्वारा दी गयी किसी वस्तु का ब्राह्मण द्वारा ग्रहण करना समाज की दृष्टि में अपराध का कार्य कह कर विवेचित होता था।

कोई शायद यह कहे कि लाचार होकर अनेक लोग बहुत कुछ कर बैठते हैं। किन्तु विपत्ति पड़ने पर यदि वह (सारदा देवी ने) ऐसा करतीं तो बाद में तो इस कार्य के लिए हे मन ही मन दुःखित होतीं अथवा प्रचलित प्रथा को मानकर प्रायश्चित करतीं। और श्री रामकृष्ण ने तो इन सब घटनाओं को जानकर भी उन्हें कुछ बुरा नहीं कहा अथवा किसी प्रकार के प्रायश्चित का विधान नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने (सारदा देवी ने) कुछ बुरा किया है यह बात उनके (श्री रामकृष्ण के) भी मन में नहीं हुई।

असल बात यही हुई। छुतमार्ग-नीची जाति के लोगों की छुई हुई वस्तु का निषेध-ऊँची का परिचायक है। घृणा स्त्रियों में भी है, पुरुषों में भी है। स्त्रियाँ अपनी सन्तान की सीधे घृणा कर नहीं पाती हैं। बच्चों में माँ कि जो प्रिति होती है, वही प्रेम प्रीति सारदा देवी के अन्तर में सभी मनुष्यों के प्रति थी। इसीसे वे अत्यन्त सहज भाव से बागदी दम्पति को माँ और पिता कह कर और उन्हीं रूप में उन्हें ग्रहण कर उनके साथ स्वजनों की भांति व्यवहार कर पायी थीं

(क्रमशः)

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

सदा सबके लिए सेवनीय

स्फूर्ति

यौवन

विकास

कफ खांसी नाशक

दिमागी ताजगी

बलवर्द्धक

आदर्श आयुर्वेदिक पारिवारिक टानिक

बैद्यनाथ च्यवनप्राश क्यों ?

क्योंकि यह ५० से ज्यादा जड़ी-बूटियों के तत्वों से बना ऐसे प्राकृतिक विटामिनों से भरपूर है जो मानव शरीर के लिए आसानी से पाचन योग्य है। रासायनिक प्रक्रिया से बनाये गये दूसरे टानिकों में यह गुण नहीं होता। इसके अलावा, बैद्यनाथ च्यवनप्राश आपके लिए और आपके परिवार के लिए अति आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक टानिक है क्योंकि यह है :

- विटामिन 'सि' से भरपूर
- कफ खांसी, जुकाम नाशक
- कैल्शियम एवं खून की कमी के लिये
- ताजगी और तन्दुरुस्ती के लिये
- यौवन के लिये
- आयु व बलवर्द्धक
- विरोध नाशक

बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता है

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

कलकत्ता • पटना • झांसी • नागपुर • इलाहाबाद

विवेक वाणी :

अग्निमन्त्र

यह सनातन धर्म का देश है। यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। ऐसा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं उसके बाद उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं—यहाँ पर भी उसी प्रकार होगा। ऐसा नहीं है,—पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग इसी समय कमर कस कर तैयार हो जाओ। गुस्सा करके क्या होगा? तुम लोगों का अब काम है, देश-देश में, गाँव-गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्य करके बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षाविहीन, धर्मविहीन वर्तमान अवस्था की बात उन्हें समझाकर कहो—'भाई' सब लोग, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो। इतने दिन इस देश के ब्राह्मणगण धर्म पर एकाधिकार करके बैठे थे। काल के स्रोत में यह अब और अधिक टिक नहीं सकता है, तो तू अब जाकर ऐसी व्यवस्था कर कि देश के सभी लोग उस धर्म को प्राप्त कर सकें। सभी को जाकर समझा दो कि ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में एक-सा अधिकार है। चाण्डाल तक को भी इस अग्नि-मन्त्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने-पढ़ने को धिक्कार, और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार!

चिन्मय आत्मा

यह शरीर धारण कर तुम कितने ही सुख-दुःख तथा सम्पद-विपद की तरंगों में हिलाये जाओ, परन्तु ध्यान रखना वे सब केवल मुहूर्त स्थायी हैं। इन सब को अपने ध्यान में भी नहीं लाना। मैं अजर, अमर, चिन्मय आत्मा हूँ, इस भाव को दृढ़ता के साथ धारण कर जीवन बिताना होगा। 'मेरा जन्म नहीं है, मेरी मृत्यु नहीं है, मैं निर्लेप आत्मा हूँ' ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ। एक बार लीन हो जाने से दुःख या कष्ट के समय यह भाव अपने आप ही मन में उदय होगा, इसके लिए फिर चेष्टा करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी।

—स्वामी विवेकानन्द

(श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर से प्रकाशित 'विवेकानन्द जी के संग में, से साभार)

श्रीमती गंगादेवी द्वारा रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा से प्रकाशित एवं श्रीकान्त लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित।